

R625a3,1  
15A



R625x3,1  
15A

1373

Kamakhyānāth.  
Kusumanjalivyākhyā  
vivṛitih.



R6 25x3, 1

15A

1373

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR  
(LIBRARY)  
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

◆◆◆◆◆

Please return this volume on or before the date last stamped.  
Overdue volume will be charged ten paise per day.

[illegible]







# कुसुमाञ्जलिव्याख्याविह्वतिः ।

महामहोपाध्याय — श्रीकामाख्यानाथ-तर्कवागीशेन  
विरचिता,

श्रीमदुदयनाचार्यप्रणीतकारिकया श्रीहरिदासभट्टाचार्य-  
कृतव्याख्याया च सहिता ।

विह्वतिकारिणैव संशोधिता प्रकाशिता च ।

द्वितीयसंस्करणम् ।



कलिकाताराजधान्याम्

१६१ संवत्-सुक्तााराम-वावू-श्रीटस्य-

गोवर्धनमेसिनयन्त्रे

श्रीगोवर्धनपानेन सुद्विता ।

शकाब्दा १८३२ ।

मूल्य १॥ टाका मात्र ।







# कुसुमाञ्जलिव्याख्याविवृतिः ।

---

महामहोपाध्याय—श्रीकामाख्यानाथ-तर्कवागीशेन  
विरचिता,

श्रीमदुदयनाचार्यप्रणीतकारिकया श्रीहरिदासभट्टाचार्य-  
कृतव्याख्याया च सहिता ।

विवृतिकारिणैव संशोधिता प्रकाशिता च ।

द्वितीयसंस्करणम् ।



कलिकाताराजधान्याम्

१६१ संख्यक-सुत्ताराम-बाबू-श्रीटण्ड-

गोवर्धनमेषिनयम्भे

श्रीगोवर्धनपानेन मुद्रिता ।

प्रकाशम् १८३२ ।

मूल्य १॥ टाकां मात्र ।



R625x3,1

15A

SRI JAGADGURU VISHWAKARNY  
NANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY.  
Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No. ~~943~~

1373



## विज्ञापनम् ।

परमर्षिकल्पश्रीमदुदयनाचार्यमहोदयप्रणोतन्यायकुसुमाञ्जलि-  
कारिकांशस्य या व्याख्या श्रीमता विद्वद्वरेण हरिदासभट्टा-  
चार्येण व्यरचि तस्या अतिसंक्षिप्तत्वादन्तरान्तरा अतिदुर्वोधत्वाच्च  
तया व्याख्यया कारिकाया अनेकांशतात्पर्यं न सुव्यक्तमभवत्  
अत उक्तहरिदासकृतव्याख्याया विवरणे प्रवृत्तोऽस्मि, कियती  
कृतकार्यता मयाप्रापि तदुक्तं न शक्यते । अथवा मादृशजनस्य  
कृतकार्यतायाः सम्भावनापि नास्ति, मन्दमतेर्महेशदुरुहव्यापारे  
हस्तक्षेपः केवलं उपहासाय मन्ये । भवतु तावत्, ममेयं विवृतिर्यदि  
विद्यार्थिनां लेशतोऽप्युपकारसाधिका भवेत् तदाहं सफलश्चमो  
भविष्यामि । गुणमात्रग्राहिणां विदुषां सविधे सविनयमिदं  
विनिवेदयामि यत् विद्वद्भिर्ममैतस्या विवृतेर्दोषांशं परित्यज्य यदि  
लेशतोपि गुणोवर्त्तते स एव ग्रहोच्यते इति । साहसमपीदमेता-  
वदुरुहव्याप्यारे मम प्रवृत्तेर्निदानं । एतद्विवृतिप्रणयणे मया  
टीकात्रयात् साहाय्यं परिप्राप्तं, एका वर्द्धमानकृतटीका, अपरा  
रामभद्रकृतटीका अपरा च आद्यन्तखण्डितराधामोहनगोस्वामि-  
कृतटीका । स्थानविशेषे उक्तान्यतमटीकाया अंशविशेषः अपरि-  
वर्त्तितभावेनैव अस्यां विवृतावुद्धृतः । अत्रेदमपि वक्तव्यं कुसु-  
माञ्जलिपुस्तकस्य पुनः संस्करणकाले वार्द्धक्यात् मदीयनेत्रद्वयं  
अत्यन्तहीनप्रभं जातमतो मुद्रितक्षुद्राक्षरसंशोधनकाले बहुषु स्थानेषु  
वर्णविपर्ययो जातः स विपर्ययः पाठकैरेव सानुकम्पं संशोधनीय  
इति प्रार्थनीयमित्यलमधिकेन ।

महामहोपाध्याय—

श्रीकामाख्यानाथ-तर्कवागीश-शर्मा ।



1. 1850

The page contains dense handwritten text in Devanagari script, which appears to be bleed-through from the reverse side of the paper. The handwriting is cursive and fills most of the page area.

1870

1. 1898-1899-1900-1901-1902-1903-1904-1905-1906-1907-1908-1909-1910-1911-1912-1913-1914-1915-1916-1917-1918-1919-1920-1921-1922-1923-1924-1925-1926-1927-1928-1929-1930-1931-1932-1933-1934-1935-1936-1937-1938-1939-1940-1941-1942-1943-1944-1945-1946-1947-1948-1949-1950-1951-1952-1953-1954-1955-1956-1957-1958-1959-1960-1961-1962-1963-1964-1965-1966-1967-1968-1969-1970-1971-1972-1973-1974-1975-1976-1977-1978-1979-1980-1981-1982-1983-1984-1985-1986-1987-1988-1989-1990-1991-1992-1993-1994-1995-1996-1997-1998-1999-2000-2001-2002-2003-2004-2005-2006-2007-2008-2009-2010-2011-2012-2013-2014-2015-2016-2017-2018-2019-2020-2021-2022-2023-2024-2025-2026-2027-2028-2029-2030-2031-2032-2033-2034-2035-2036-2037-2038-2039-2040-2041-2042-2043-2044-2045-2046-2047-2048-2049-2050-2051-2052-2053-2054-2055-2056-2057-2058-2059-2060-2061-2062-2063-2064-2065-2066-2067-2068-2069-2070-2071-2072-2073-2074-2075-2076-2077-2078-2079-2080-2081-2082-2083-2084-2085-2086-2087-2088-2089-2090-2091-2092-2093-2094-2095-2096-2097-2098-2099-2100-2101-2102-2103-2104-2105-2106-2107-2108-2109-2110-2111-2112-2113-2114-2115-2116-2117-2118-2119-2120-2121-2122-2123-2124-2125-2126-2127-2128-2129-2130-2131-2132-2133-2134-2135-2136-2137-2138-2139-2140-2141-2142-2143-2144-2145-2146-2147-2148-2149-2150-2151-2152-2153-2154-2155-2156-2157-2158-2159-2160-2161-2162-2163-2164-2165-2166-2167-2168-2169-2170-2171-2172-2173-2174-2175-2176-2177-2178-2179-2180-2181-2182-2183-2184-2185-2186-2187-2188-2189-2190-2191-2192-2193-2194-2195-2196-2197-2198-2199-2200-2201-2202-2203-2204-2205-2206-2207-2208-2209-2210-2211-2212-2213-2214-2215-2216-2217-2218-2219-2220-2221-2222-2223-2224-2225-2226-2227-2228-2229-2230-2231-2232-2233-2234-2235-2236-2237-2238-2239-2240-2241-2242-2243-2244-2245-2246-2247-2248-2249-2250-2251-2252-2253-2254-2255-2256-2257-2258-2259-2260-2261-2262-2263-2264-2265-2266-2267-2268-2269-2270-2271-2272-2273-2274-2275-2276-2277-2278-2279-2280-2281-2282-2283-2284-2285-2286-2287-2288-2289-2290-2291-2292-2293-2294-2295-2296-2297-2298-2299-2300-2301-2302-2303-2304-2305-2306-2307-2308-2309-2310-2311-2312-2313-2314-2315-2316-2317-2318-2319-2320-2321-2322-2323-2324-2325-2326-2327-2328-2329-2330-2331-2332-2333-2334-2335-2336-2337-2338-2339-2340-2341-2342-2343-2344-2345-2346-2347-2348-2349-2350-2351-2352-2353-2354-2355-2356-2357-2358-2359-2360-2361-2362-2363-2364-2365-2366-2367-2368-2369-2370-2371-2372-2373-2374-2375-2376-2377-2378-2379-2380-2381-2382-2383-2384-2385-2386-2387-2388-2389-2390-2391-2392-2393-2394-2395-2396-2397-2398-2399-2400-2401-2402-2403-2404-2405-2406-2407-2408-2409-2410-2411-2412-2413-2414-2415-2416-2417-2418-2419-2420-2421-2422-2423-2424-2425-2426-2427-2428-2429-2430-2431-2432-2433-2434-2435-2436-2437-2438-2439-2440-2441-2442-2443-2444-2445-2446-2447-2448-2449-2450-2451-2452-2453-2454-2455-2456-2457-2458-2459-2460-2461-2462-2463-2464-2465-2466-2467-2468-2469-2470-2471-2472-2473-2474-2475-2476-2477-2478-2479-2480-2481-2482-2483-2484-2485-2486-2487-2488-2489-2490-2491-2492-2493-2494-2495-2496-2497-2498-2499-2500-2501-2502-2503-2504-2505-2506-2507-2508-2509-2510-2511-2512-2513-2514-2515-2516-2517-2518-2519-2520-2521-2522-2523-2524-2525-2526-2527-2528-2529-2530-2531-2532-2533-2534-2535-2536-2537-2538-2539-2540-2541-2542-2543-2544-2545-2546-2547-2548-2549-2550-2551-2552-2553-2554-2555-2556-2557-2558-2559-2560-2561-2562-2563-2564-2565-2566-2567-2568-2569-2570-2571-2572-2573-2574-2575-2576-2577-2578-2579-2580-2581-2582-2583-2584-2585-2586-2587-2588-2589-2590-2591-2592-2593-2594-2595-2596-2597-2598-2599-2600-2601-2602-2603-2604-2605-2606-2607-2608-2609-2610-2611-2612-2613-2614-2615-2616-2617-2618-2619-2620-2621-2622-2623-2624-2625-2626-2627-2628-2629-2630-2631-2632-2633-2634-2635-2636-2637-2638-2639-2640-2641-2642-2643-2644-2645-2646-2647-2648-2649-2650-2651-2652-2653-2654-2655-2656-2657-2658-2659-2660-2661-2662-2663-2664-2665-2666-2667-2668-2669-2670-2671-2672-2673-2674-2675-2676-2677-2678-2679-2680-2681-2682-2683-2684-2685-2686-2687-2688-2689-2690-2691-2692-2693-2694-2695-2696-2697-2698-2699-2700-2701-2702-2703-2704-2705-2706-2707-2708-2709-2710-2711-2712-2713-2714-2715-2

श्रीगणेशाय नमः ।

## कुसुमाञ्जली ।

प्रथमस्तवकः ।

ईषदीषदमधीतविद्यया तात-मातृमुदमाविवर्धयन् ।

क्षेपणाय भव-कर्म-जन्मनां कोऽपि गोपतनयो नमस्यते ॥

हेरस्वचरणद्वन्द्वं विन्नविध्वंसकारणम् ।

यत्पूजितं महेन्द्रायैस्तत्रलाभक्तिभावतः ॥ १ ॥

कुसुमाञ्जलिटीका या हरिदासेन निर्मिता ।

कामाख्यानाथशर्मा तां विदधीति यथामति ॥ २ ॥

श्रमो मदीयः साफल्यं तदैव समवाप्स्यति ।

सदोषामपि मद्याख्यां गृह्णीयुर्विमुक्ता यदि ॥ ३ ॥

प्रारिञ्चितशय्यसमाप्तिप्रतिबन्धकविघ्नसमूहविध्वंसनपटीयांसम् ईश्वरनमस्कारं शिष्यशिष्या-  
ध्यामादौ निवर्त्तति, 'ईषदीति, 'ईषत्' अव्यक्ता, 'ईषत्' अस्या असम्बन्धहरितेति यावत्,  
'अनधीता' अनुपदिष्टा स्वतः प्रवृत्तेति यावत्, ईदृशी या 'विद्या' वाक्, तथा, यद्यपि  
विद्याशब्दस्य ज्ञानशक्तत्वं, तथापि आयुर्वृत्तामित्यादाविव जनकलक्षणाया वाक्यपरत्वमिति ।  
'तात-मातृमुदमाविवर्धयन्' तातस्य मातुश्च आनन्दं जनयन्, 'कोऽपि' अनिवर्चनीयः, गोपतन्यः  
शौक्लणः, 'नमस्यते' स्वावधिकोत्कर्षवत्तया ज्ञाप्यते स्वावधिकोत्कर्षवत्तया ज्ञापनस्य नमस्कार-  
पदार्थत्वात् । नमस्कारप्रयोजनमाह, भवेति, 'भवः' संसारः मिथ्याज्ञानजन्यवासनेति यावत्,  
'कर्माणि' षट्पदेषुपाणि शुभाशुभकर्माणि, 'जन्म' आत्मनो देहेन्द्रियसम्बन्धः, तेषां 'क्षेपणाय'  
विनाशाय । केचित्तु 'भूवज्जन्मकर्मणाम्' इति पाठं कल्पयन्तः भवे लोके जन्म येभ्यः तादृशानि  
याणि शुभाशुभकर्माणि तेषां 'क्षेपणाय' विनाशाय इति व्याचक्षते ।



इष्टदेवतासंकीर्तनं ब्रह्मप्रतिपादकसच्छब्दप्रयोगात्मकं मङ्गलञ्च  
कुर्वन्नेव ग्रन्थनामाह,—

सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्धोषबद्धोत्सवो-

विस्त्रानो न विमर्दनेऽमृतरसप्रस्यन्दमाध्वीकभूः ।

वृंशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमानं भ्रम-

चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥१॥

एष अनघः निर्दोषः न्यायः समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकं  
वाक्यं स एव कुसुमाञ्जलिः, मे मम चित्तं रमयतु दुःखसामग्री-

इष्टदेवतेति, 'इष्टदेवतायाः' अभिमतदेवताया, 'सङ्कीर्तनम्' ईशेति नामोच्चारणं, सच्छब्देति,  
"यो तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" इत्यादिना सच्छब्दस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वं  
प्रतिपादितम् । ग्रन्थनामाहेति 'ग्रन्थनां' सन्दर्भम्, अथवा 'ग्रन्थस्य नाम' प्रसूनाञ्जलिरित्यनेन  
प्रसूनाञ्जलीव्याख्याम् आह्वयर्थः ।

न्याय इति नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति व्यायः । समस्तरूपोपपन्नेत्यादि,  
समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकं वाक्यम् उचितानुपूर्वीकप्रतिज्ञादिपञ्चसमुदायात्मकं वाक्यं,  
न तु समस्तरूपाणि पञ्चसत्त्व-सपञ्चत्त्व-विपक्षासत्त्वावाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वस्वरूपाणि यानि  
पञ्चरूपाणि तैः उपपन्नं विशिष्टं यत् लिङ्गं गमको हेतुः तत्प्रतिपादकं वाक्यम्, ईदृशवाक्यत्व-  
रूपेभ्यश्चलच्चक्ष्य "तव न समस्तरूपोपपन्नलिङ्गप्रतिपादकं वाक्यं म्यायः अतैव वाक्ये अति-  
न्यासिः" इत्यनेन मणिकृता, "अतिभ्रान्तेरित्युफलचणं कैवलान्वयिष्ठले विपक्षाप्रसिद्धा  
तत्साम्यकन्याये अन्यातिरपि द्रष्टव्या" इत्यनेन अवयवभूलव्याख्यानावसरे जगदीशतर्कालङ्कारेण  
च निरस्तत्वात् । स एव कुसुमाञ्जलिरिति, यद्यपि "तौ युतावञ्जलिः पुमान्" इति कोशात्  
विन्यासविशिष्टकरावेवाञ्जलिः, तथापि "तौस्त्रीन् दद्यात् जलाञ्जलीन्" इत्यादिवत् राजदन्नादि-  
त्वात् परनिपातेन अञ्जलिः प्रसूनमिति तत्पुरुषसमासाङ्गीकारात् नानुपपन्तिः । दुःखसामग्री-  
विहीनमिति, दुःखविहीनमित्युक्तौ कदाचित् अन्धदादीनां खत एव दुःखराहित्यसम्भवात्  
सामग्रीति, प्रागभावचटितसामग्री तु तत्त्वज्ञाननाश्या । यद्यपि दुःखसामग्रीविहीनत्वं मनसि  
सिद्धमेवेति न तव इच्छोत्पत्तिसम्भवाद्यापि स्त्रायत्मात्मसंयोज्यरूपपरम्परासम्बन्धेन दुःखसामग्री-



विहोनेन करोतु । अनघत्वं शब्ददोषरहितत्वं, विषयाशुद्धेः पूर्वाङ्गे-  
नैव निरासादिति प्रकाशः । अविघ्नं यथा स्यात् ईशस्य पदयुगे पद्य-  
तेऽनेनेति व्युत्पत्त्या पदं प्रत्यायकं, तदयुगं प्रमाण-तर्करूपं, तत्र  
निवेशितः तद्विषयतया उत्पादितः । चेतः कीदृशं भृङ्गायमानं भृङ्ग-  
इव मकरन्दे दुःखविगमोपाये सत्त्वात् भ्रमत् दुःखविगमोपायमनु-  
सन्दधत् । प्रसूनाञ्जलिसाम्यमाह, सदित्यादि । सता समीचीनेन  
पक्षेणानुकूलेन रविकिरणादिना प्रसरो विकाशो यस्य स तथा, सतां  
पक्षाणां दलानां विकाशो यत्र स तथेति वा । सतामनुपहत-  
घ्राणानां परिमलस्य गन्धविशेषस्य प्रोक्षोद्धेन साक्षात्कारेण बन्ध-  
उत्सव आनन्दो येन सः । विमर्दने करपुटविमर्दने न विस्नानः

असत्त्वं मनसो बोध्यम्, एतच्च न्यायमते, वेदान्तमते तु यथायु तमेव सम्यक् तन्मते दुःखादीनां  
मनसो धर्मत्वात् । शब्ददोषरहितत्वमिति शब्ददोषसु निराकाङ्क्षादिकं, 'विषयाशुद्धेरिति  
विषयः चित्तिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यादिन्यायप्रयोज्यबोधविषयः सकर्तृकत्वादि, तस्याशुद्धिः  
पक्षादावसत्त्वमित्यर्थः । प्रमाण-तर्करूपमिति, अत्र प्रमाणं चित्तिः सकर्तृका कार्यत्वादित्या-  
कारकमनुमानं, तर्कसु चित्यादिकं यदि सकर्तृकं न स्यात् तदा कार्यं न स्वादित्याकारकः,  
अथवा कार्यत्वं यदि सकर्तृकत्वमभिचारि स्यात् तदा कृतिजन्यतावच्छेदकं न स्यात्  
अतिप्रसक्तधर्मस्यानवच्छेदकत्वात् इत्येवं तत्र तर्कः । अतएव सिद्धान्तमुक्तावल्यामुक्तं, "मम  
तु कर्तृत्वेन कार्यत्वेन कार्य-कारणभाव एवानुक्तसर्कः" इति । न चान्य-व्यतिरेकाभ्यां  
घटत्वावच्छिन्नं प्रति कुलालादिह्यतिलेनैव हेतुत्वात् एतादृशकार्य-कारणभावे भानाभाव इति  
वाच्यम् । घटत्व-पटत्वादिभेदेनानन्तकार्य-कारणभावकल्पनापेक्षया कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति  
कृतित्वेन हेतुत्वकल्पनस्यैवोचितत्वात् यद्विशेषयोरितिन्यायेन कार्यत्व-कृतित्वाभ्यां सानान्यकार्य-  
कारणभावस्यावश्यकत्वाच्च । न चैतादृशन्यायोनिष्प्रमाणक इति वाच्यम् । कार्यत्वावच्छिन्ना-  
भावे तत्तत्कृत्यभावकूटस्य प्रयोजकत्वकल्पने गौरवात् कृतित्वावच्छिन्नाभावस्यैकस्य प्रयोजकत्वे  
लाघवादिति । तद्विषयतया उत्पादितः तन्निमित्ततया उत्पादितः इत्यर्थः । तथाच न्यायपक्षे  
पदयुग इत्यत्र निमित्तार्थे मग्नो । ननु व्याप्तिपक्षधर्मताविषयकतया अनुमाने उदाहरणो-



नान्यथाभूतसंस्थानः । अमृततुल्यं रसं प्रस्यन्दते इति प्रस्यन्दः,  
एतादृशं माध्वीकं मधु, तस्य भूरुत्यत्तिस्थानम् ।

न्यायपक्षे सति प्रामाणिके पक्षतावच्छेदकविशिष्ट इति यावत्,  
पक्षे सिषाधयिषितसाध्यके धर्मिणि प्रसरः प्रकर्षेण सरो ज्ञानं  
यस्मात् । एतेनाश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धिबाधनिरासः । सतां  
विवेचकानां परि सर्वतोभावेन मलः सम्बन्धो व्याप्तिः, तस्याः  
प्रोक्षोधेन प्रमया बद्ध उत्सव आनन्दो येन, एतेन व्यभिचार-  
व्याप्यत्वासिद्धि-विरोधानां निरासः । विमर्दने विरोधिप्रमाण-

पनयादिषट्तिन्यायस्य निमित्तत्वेऽपि तर्कं कथं न्यायस्य निमित्तत्वमिति चेत्, न, तर्कस्यापि  
आपाद्यापादकव्याप्तिज्ञानमूलकतया तादृशव्याप्तिज्ञाने न्यायस्य निमित्तत्वात् । दुःखविगमोपाय-  
मनुसन्दधदिति दुःखहानोपायगोचरोक्तटेच्छावदित्यर्थः, न्यायनये मनसस्तत्त्वञ्च स्वजनकज्ञान-  
जनकसंयोगरूपपरम्परासम्बन्धेन, स्वजनकज्ञानञ्च इष्टसाधनताज्ञानं उपायेच्छां प्रति फल-  
साधनताज्ञानस्य हेतुत्वात्, तज्जनकसंयोगः आत्म-मनःसंयोगः ज्ञानसामान्य एव तस्य हेतुत्वात् ।  
प्रत्यूनाञ्जलिसाम्येति, अतः साम्यं स्वप्रतिपादकशब्दप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञेयम् । सिषाधयिषितेति,  
वेदादिशब्देनैव ईश्वरविषयकशब्दसिद्धिसत्त्वादितद्वशयेन ईश्वरसाधने पक्षत्वं न स्यात् अतः  
सिषाधयिषितेति, तथाच शब्दसिद्धिसत्त्वेऽपि सिषाधयिषाधिरहस्यज्ञतसिद्धाभावसत्त्वात्  
पक्षताद्वान्तिः । प्रकर्षेणेति, प्रकर्षस्य यथायेत्वमिति । आश्रयासिद्धौव्यादि, ननु एतद्वत्त्वेन  
आश्रयासिद्धि-बाधनिरासेऽपि पक्षतावच्छेदकविशिष्टे हेतुज्ञानाविरोधितया कथं स्वरूपासिद्धि-  
निरास इति चेत्, न, लिङ्गोपहितलैङ्गिकभावात्साधार्यमतसिद्धतया हेतुविशिष्टपक्षे साध्यस्यानु-  
मित्यां विषयीकरणेन स्वरूपासिद्धिनिरासात् । न च तादृशमताश्रयेण स्वरूपासिद्धिनिरासे  
व्यभिचारादीनामपि निराससम्भवात् दलान्तरं व्यर्थं माध्यमिककार्य-कारणभावाकल्पननिवन्धन-  
साधवार्थमेवाचार्यैः लिङ्गोपहितलैङ्गिकभावाङ्गीकारात् अनुमिती पक्षांशे हेतोरिव हेतुंशे  
व्याप्तेर्भावावश्यमङ्गीकर्तव्यत्वात् इति वाच्यम् । साध्याभाववद्वत्तत्वरूपैकविधव्याप्ति-  
ज्ञानस्यानुमितिकारणत्ववादिनां आचार्यविशेषाणां मते अनुमिती पक्षांशे लिङ्गभावेनैव  
माध्यमिककार्य-कारणभावाकल्पननिवन्धनलाघवसम्भवात् व्याप्तिभावावश्यकत्वात् । केचित्तु  
सिषाधयिषितं साध्यं धर्मोपसृष्ट इति व्युत्पत्त्या बाधव्युदासः । धर्मिणि हेतुमृतधर्मवति



चिन्तायां न विज्ञानः न कार्याक्षमः, तेन सप्रतिपक्षराहित्यम् ।  
अमृतं मोक्षः, रस इष्टमाणं, कृद्विहित इति न्यायात्, प्रसन्द-  
उत्पद्यमानम् । तेन मोक्षस्यासाध्यता निराकृता । तदेव माध्वीकं,  
तस्य भूतत्पत्तिस्थानम् ॥ १ ॥

नन्वीश्वरपदयुनिवेशितस्य न्यायस्य मोक्षरूपफलसम्बन्धे  
मानाभावः, तत्त्वज्ञानविषयात्मबोधकस्यात्मशब्दस्य संसारनिदान-  
मिथ्याज्ञानविषयस्वात्ममात्रपरत्वात् तन्मननस्यैव मोक्षोपायत्वात्  
इति शङ्कायामाह,—

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।

यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥ २ ॥

इति स्वरूपासिद्धिमुदासः । प्रकर्षेण व्याप्ता अवच्छेदावच्छेदेनेति यावत् तेन भागासिद्धिव्यु-  
दासः । ज्ञानं हेतोरित्यर्थादित्याहुः । सर्वतोभावेनेति अन्यथतो व्यतिरेकतयैत्यर्थः, अथवा  
परितः सपक्षे सत्तया विपक्षे चासत्तया यो मूलः सम्बन्धो व्याप्तिरूपः इत्यर्थः ।  
व्यभिचारिति प्राचीनैः साध्याप्रसिद्धि-साधनाप्रसिद्धयोः व्याप्यत्वासिद्धावन्तर्भावात् न तयोः  
पृथगुपन्यासः । विरोधिप्रमाणचिन्तायामिति, विरोधिप्रमाणं विपरीतकोटिविषयकप्रमिति-  
जनको हेतुः तच्चिन्ता तद्विषयकं ज्ञानं, सकार्थं स्वप्रयोज्यानुमितिः, तदक्षमः तदप्रयोजकः,  
तथाच विरोधि-कोटिप्रमाणकहेतुविषयकज्ञानकालीन-स्वप्रयोज्यानुमित्यप्रयोजकतावान् यो यो  
न्यायः तत्तदभेदकूटवान् इति समुदितार्थः । कृद्विहित इति “कृद्विहितो भावो द्रव्यवत् प्रका-  
शते” इति न्यायादित्यर्थः ॥ १ ॥

नन्वीश्वरेत्यादि, ईश्वरमनसस्य मोक्षहेतुत्वे मानाभावः, “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो  
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यादिश्रुतेः सामानाधिकरण्यानुरोधेन यद्विषयकसाक्षात्कारो मोक्ष-  
हेतुः तद्विषयकं मननं मोक्षजनकं, साक्षात्कारश्च नेश्वरविषयकः, मिथ्याज्ञानध्वंसद्वारा हि  
अस्य तत्हेतुत्वम् । न चेश्वरगोचरं मिथ्याज्ञानं संसारहेतुः येन ईश्वरगोचरमिथ्याज्ञानध्वंसद्वारा  
ईश्वरतत्त्वसाक्षात्कारो हेतुर्भवेत् । किन्तु स्वात्मगोचरं मिथ्याज्ञानमिति तत्तत्त्वसाक्षात्कार एव



## कुसुमाञ्जली ।

स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गतुल्ययोरपवर्गयोः जीवनमुक्ति-परममुक्तयोः ।  
 ईश्वरमननच्चाष्टद्वारा स्वात्मसाक्षात्कारद्वारा वा मुक्तौ हेतुः,  
 “तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” इति  
 श्रुतिस्तत्कारणत्वे मानम् । स्वात्मसाक्षात्कारस्य मोक्षहेतुत्वे मानञ्च  
 “यदात्मानं विजानीयादहमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य  
 कामाय संसारमर्हसंसेरेत्” ॥ इति ॥ २ ॥

मोक्षहेतुरिति समुदितान्यथ्यम् । कारिकायां स्वर्गेति, मनीषिणः विद्वांसः यस्य उपासिं  
 उपासनां स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गतुल्ययोरपवर्गयोः जीवनमुक्ति-परममुक्तयोः मार्गं उपायं आसनन्ति  
 कथयन्ति अस्मै परमात्मा निरूप्यते न्यायेन मननविपर्ययक्रियते इति वाक्याश्रयः । यद्यपीषि-  
 स्थित्यासिविद्विबन्दीत्यादिसूत्रेण त्रिवाधकशुचप्रत्ययविधानात् उपासनेत्येव भवितुमर्हति,  
 तथापि असुक्ष्मेपथे इत्यस्य धर्माश्रयं प्रयोगः उपसर्गबलेन धातोरन्याशङ्कत्वात् । केचित्, कचिद-  
 पवादविषयेऽपि उत्सर्गस्य समावेश इति न्यायात् आसधातोरेव त्रिप्रत्ययमाहुः । नन्वीश्वरोपा-  
 सनायाः फलं न स्वर्ग इत्यत आह, व्याख्यायां स्वर्गतुल्ययोरिति, स्वर्गतुल्यत्वकथनेन उत्कटेच्छा-  
 विषयत्वं जन्मत्वञ्च सम्पादितं, अन्यथा तदभिधाने अनाकाङ्क्षिताभिधानापत्तेः । जीवनमुक्ति-  
 परममुक्त्योरिति, जीवनमुक्तिय मिथ्याज्ञानजन्यवासनाराहित्ये सति जीवित्वं, जीवित्वञ्च शरीर-  
 प्राणसंयोगः । परममुक्तिः चरमदुःखध्वंसः आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरिति यावत् । ईश्वर-  
 मननञ्चेति, तथाच “तमेव विदित्वेति श्रुत्या “हे ब्रह्मणी वेदितव्ये परञ्चापरमेव चेति श्रुत्या  
 च “आत्मा वा अरे इत्यादि श्रुतिघटकात्मपदं ज्ञानवत्स्वरूपेण जीवात्म-परमात्मोभयपरं, अतएव  
 “श्रुतोहि भगवान् बहुशः श्रुति-स्मृतीतिहास-पुराणादिष्विदानीं मन्तव्यो भवति श्रोतव्यो मन्तव्य  
 इति श्रुतेः” इत्युत्तरग्रन्थोऽपि सङ्गच्छते । यद्यपीश्वरमननं मिथ्याज्ञानोच्छेदद्वारा नोपयोगि,  
 तथापि स्वात्मसाक्षात्कार एव उपयुज्यते । अतएवोक्तं, “सहि तत्त्वतो ज्ञातः स्वात्मसाक्षा-  
 त्कारस्त्रोपकरोति” इति तन्निरूपणमपि प्रयोजनवदिति । यदात्मानमिति, यदा पुरुषः अहम-  
 स्मीति देहभिन्नोऽहमित्येवं आत्मानं विजानीयादित्यर्थः । किमिच्छन् कस्य कामायेति,  
 कामायेत्यत्र चतुर्थ्यर्थः प्रयोजकत्वं, तथाच किञ्चिदुपावेच्छाप्रयोजककिञ्चित्फलविषयकैच्छाविशिष्टः  
 सन्नित्यर्थः । संसारं, संसारं भोगादिस्नानं, अमुकं संसेरेत् आशयेदित्यर्थः ॥ २ ॥



इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्ध-  
बुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति  
कापिलाः, क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माण-  
कायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति  
पातञ्जलाः, लोक-वेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति  
महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति  
वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष-  
इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः, निरावरण-  
इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमां-  
सकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, याव-  
दुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना यं कारवो-  
ऽपि विश्वकर्मेत्युपासते, तस्मिन्नेवं जाति-गोत्र-प्रवर-  
चरण-कुलधर्मादिवदासंसारं सुप्रप्रिद्वानुभवे भगवति  
भवे सन्देह एव कुतः किं निरूपणीयं, तथापि—

सांख्य-वेदानादिसकलदर्शनसिद्धान्तानुसारिण एव भिन्नभिन्नरूपेण भगवन्नुपासते अतस्त-  
त्राविवादान् न्यायेन तद्व्यवस्थापनं नोपपद्यत इत्याशङ्कं निराचिकीर्षुराह, इह यद्यपीति इह  
निरूपणे विषयत्वं सप्तमर्थः, तस्य यद्वारवोऽपि इत्ययमवतत्पदार्थेन सहान्वयः, औपनिषदादयः  
निरूपणविषयीभूतं यं परमात्मानम् उपासते इति सर्वत्र योजना । यं कमपीत्यादि, यं कमपि  
मुख्यं गौणं वा पुरुषार्थं पुरुषप्रयोजनम्, अर्थयमानाः इच्छन्तः, यम् उपासते इत्यन्वयः ।  
औपनिषदाः वेदान्तिनः, कापिलाः सांख्याः । केन रूपेण उपासते इत्याह, युद्धबुद्धस्वभाव-  
इत्यादि । लोकेति, लोकविरुद्धैः विषमव्यवस्थादिभिः, वेदविरुद्धैः ब्रह्महन्नादिभिः, उपलक्षितः,  
इत्यर्थः तत्त्वचणे द्वितीया, सोऽयमित्यर्थः सोऽपि निर्वैषः इष्टादृष्टदोषरहितः, स्वतन्त्रः अन्येच्छान-



न्यायचर्चेयस्मिंशस्य मननव्यपदेशभाक् ।

उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥

श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुति स्मृतीतिहास-  
पुराणादिषु दूदानीं मन्तव्यो भवति, “श्रोतव्यो  
मन्तव्यः” इति श्रुतेः । “आगमेनानुमानेन ध्याना-  
भ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते  
योगमुत्तमम्” ॥ इति स्मृतेश्च । तदिह सङ्क्षेपतः  
पञ्चतयी विप्रतिपत्तिः, अलौकिकस्य परलोकसाध-  
नस्याभावात्, अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठान-

धीनेच्छावान्, अथ वा परमाण्वदृष्टादिसाहित्यं विनापि जगत्कर्ता । लोकव्यवहारंति, यथा  
लोके व्यवक्रियते चतुर्भ्योऽप्युपेत-देहवान् ईश्वरः न त्वदृश्य इति तथा । अथवा लोकव्यवहा-  
रसिद्धः राजा, “लोकसिद्धो राजा परमेश्वर इत्युक्तेः । । अतिप्रसिद्धिं सूचयितुमाह, कारव-  
इति शिल्पिन इत्यर्थः, विश्वकर्मा विश्वं सर्वसुत्पत्तिमत् कर्म कर्तुं यस्य स तथा ।

जातिः ब्राह्मणत्वादि, गोवं काश्यपादि, प्रवराः यज्ञे त्रियमाणा ऋषयः, कुलधर्मादयः  
कुलाचारादयः, भवति उत्पद्यते जगदस्यादिति भवः जगत्कर्तृपरमेश्वरः, तथाच जाल्पादि-  
वत् आसंसारं संसारमभिधाय, सुप्रसिद्धानुभवे सुप्रसिद्धः अनुभवः असाधारणकार्यं  
यस्य एतादृशे । भगवति षडैश्वर्यशालिनि भवे जगत्कर्तारि, सन्देह एव कुतः  
सन्देहस्यैवावगमः, किं निरूपणीयं कुत्र न्यायः प्रवर्तनीयः, इति पूर्वपक्षतात्पर्यम् । मन-  
नाख्यभगवदुपासनायाः श्रुत्यादिना मोक्षसाधनतावगतिः मननरूपतदुपासनार्थमेव न्यायः  
प्रवर्तनीय इति सिद्धान्तं मनसिक्तव्यं समाधत्ते, तथापीति, न्यायश्चां न्यायप्रयोज्यो  
मननव्यपदेशव्यपदेशभाक् मननाख्यः अनुमितिरूपेति यावत् । ननु न्यायप्रयोज्याया  
मननाख्योपासनायाः कीदृशमवसर इत्याशङ्क्याह श्रवणेति श्रवणोत्तरं प्राप्तेत्यर्थः । ननु  
मननस्य श्रवणोत्तरत्वे श्रवणनिर्वाहे कथं मननावसर इत्यत आह, श्रुतीहीति, मननस्य  
श्रवणोत्तरकर्तव्यत्वे श्रुतिं प्रमाणयति, श्रोतव्य इति । अथ स्मृतिसमिपि प्रमाणयति,  
आगमेनेति आगमेन श्रुत्यादिना, अनुमानेन व्याप्ति-पक्षधर्माविशिष्टवहुविधहेतुज्ञाने-



सम्भवात्, तदभावावेदकप्रमाणसद्भावात्, सत्त्वेऽपि  
तस्याप्रमाणत्वात्, तत्साधकप्रमाणाभावाच्चेति ॥३॥

शुद्धो द्वितीयरहितः । बुद्धो बोधस्वरूपः । आदौ सर्गादौ  
विद्वान् चिद्रूपः । सिद्धः अष्टविधैश्वर्यवान् । अविद्याऽस्मिता-  
राग-द्वेषाभिनिवेशः पञ्च क्लेशाः । कर्म धर्माधर्महेतुर्याग-हिंसादिः ।

नेत्यर्थः, “मन्त्रश्रयोपपत्तिभिः” इति स्मरणात् । ध्यानाभ्यासरत्नेनेति, ध्यानं तव प्रत्य-  
यैकतानता तस्य अभ्यासः नैरन्तर्यं तव रस इच्छा तेनेत्यर्थः । अथवा कृद्विहितेति-  
न्यायात् रसः इष्यमाणः, एतादृशेन ध्यानाभ्यासेनेत्यर्थः । विधा आगमादित्येण प्रज्ञां  
बुद्धिं परमात्मनि प्रकल्पयन् उत्तमं योगम् आत्मसाक्षात्काररूपं योगं लभत इत्यर्थः ।

आचार्योक्तं व्याचष्टे, शुद्ध इत्यादिना, चिद्रूप इति स्वभावतयेतनः न तु बुद्धेरिव  
अतत्त्विकं चैतन्यं तस्य इत्यर्थः । अष्टविधैश्वर्यवानिति, “अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राक्कायं  
महिमा तथा । ईशिलं वशिलं तथा कामावसायिता” ॥ इत्युक्ताष्टविधैश्वर्य-  
वानित्यर्थः । तत्राणिमा अणुभावः यतः शिलानपि प्रविशति । लघिमा लघुभावः  
यतः सूर्यमरोचिमालम्बा सूर्यलोकं याति । महिमा महती भावः यतो महान् सम्भवति ।  
प्राप्तिरङ्गुल्येण स्पृशति चन्द्रम् । प्राक्कायम् इच्छानभिधातः यतो भूमावुन्मज्जति  
निमज्जति यद्योदके । ईशिलं भूत-भौतिकेषु प्रभुत्वम् । वशिलं भूत-भौतिकं वशी-  
भवत्यस्यावश्वत्वं । कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथास्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु तथैव  
भूतानि भवन्ति । अविद्या “अनित्याद्यचिदुःखानात्ममु नित्य-शुचि-सुखान्ध्यातिरविद्ये-  
त्युक्तवचना, अस्मिता अहमिति ममेति चैश्वर्यमानः । अभिनिवेशः मरणभौतिजनका-  
ज्ञानविशेषः । जात्यायुर्भोगाः, जातिः जन्म, आयुः जीवनकालः, भोगः सुख-दुःख-  
साक्षात्कारः, आशयाः फलपर्थ्यन्तम् अशेरते इत्याशया धर्माधर्माः । सम्प्रदायः  
सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्यायेति सम्प्रदायो वेदः । यावदुक्तेष्विति यावदुक्तेषु यदुपपन्नं  
युक्तिमत् सर्वज्ञत्वादि तेन उपपन्नः सम्पन्नः इति मध्यपदलोपी समासः । ननु श्रुत्यादिना  
परमात्मतत्त्वनिर्णयेन सिद्धभावरूपपक्षताविरहात् कथं जननस्य सम्भव इत्यत आह,  
शब्दसिद्धावपैति, अनुमित्येति, तथाच ईश्वरानुमितौ मुक्तिरूपफलसाधनताज्ञानेन  
तत्वेच्छीत्यन्तौ सिद्धाधिशिवविरहविशिष्टसिद्धभावसत्त्वानुमितिप्रतिरोध इति भावः ।



विपाकाः जात्यायुर्भोगाः । धर्माधर्माः आशयाः । निर्माणार्थं  
 कायो निर्माणकायः । सम्प्रदायो वेदः । प्रद्योतक इति प्रकाशकः,  
 वेदस्य नित्यत्वात् । घटादौ कर्तव्ये अनुग्राहकः शिष्ययिता ।  
 शिवो निस्त्रैगुण्यः । पितामहः जनकस्यापि जनकः । इज्जते इति  
 यज्ञः । सर्वज्ञः क्षणिकसर्वज्ञः । आवरणमविद्या-राग-द्वेष-मोहा-

सर्ववैव संशयस्य पक्षतात्त्विकमित्यभिमानिनो दुर्जनस्य सन्तोषार्थमाह, तुष्यत्विति, न्यायेनेति  
 तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेनेत्यर्थः । तदिहेति यस्मात् विप्रतिपत्तिरन्ता संशय एव तस्मात् इह यत्ने  
 इत्यर्थः । सङ्क्षेपतः इति, अत्रावान्तरबहुविधविप्रतिपत्तीनां विशिष्यामिरास एव सङ्क्षेपः । पक्ष-  
 तथै विप्रतिपत्तिरिति निरस्येति शेषः । विप्रतिपत्तिः यथाक्रमं चार्वाक-मीमांसक-सौगत-दिगम्बर-  
 सांख्यानानां, विप्रतिपत्तिः विरुद्धा प्रतिपत्तिः विवरीतबुद्धिरिति यावत् । तथाचैतद्विप्रतिपत्तिपञ्चक-  
 निरासादेव श्रीपनिपदादिविप्रतिपत्तयो निरस्ताभविष्यन्तीति भावः । परलोकसाधनस्याभावा-  
 दिति, यज्जगद्भित्वात् पञ्चमी, अलौकिकपरलोकसाधनाभावं विषयीकृत्ये धर्मः, एवमग्रेऽपि ।  
 अत्राभावपदम् असुरादिपदवत् भावविरोधिपरं, भावपदञ्च सत्तापरं, तथाचालौकिकपरलोक-  
 साधनस्य या सत्ता अक्षित्वं तद्विरोध्यवगाहिनी विप्रतिपत्तिरिति तात्पर्यम् । अलौकिके विप्रति-  
 पत्तिरीतिस्तु लौकिकप्रत्यक्षाविषयगुणत्वसाक्षाद्वाप्यजात्यधिकरणत्वम् । आत्मगुणे वर्तते न वा  
 इत्याकारिका, अत्र भावकोटिर्नैयायिकानाम् अभावकोटिश्चार्वाकाणाम्, ईदृशी जातिः चार्वाक-  
 मते गुरुत्वत्वादिकं तदधिकरणत्वम् आत्मगुणे न वर्तते, न्यायमते तु धर्मत्वाधर्मत्वादिकं तादृशी  
 जातिः तदधिकरणत्वम् आत्मगुणे वर्तते । ज्ञानत्व-सुखत्वादिकमादाय सिद्धसाधनवारणाय  
 लौकिकप्रत्यक्षाविषयेति, भावनात्वमादाय सिद्धसाधनवारणाय गुणत्वसाक्षाद्वाप्येति, अदृष्टत्वं न  
 जातिः अतः धर्मत्वाधर्मत्वादिकं गुणत्वसाक्षाद्वाप्यजातिः, गुणत्वसाक्षाद्वाप्यत्वञ्च गुणत्वव्याप्य-  
 जाल्यव्याप्यत्वे सति गुणत्वव्याप्यत्वम् । न चाधिकरणत्वं व्यर्थं तादृशजातिरात्मगुणे वर्तते न  
 वेत्यस्यैव सम्यक्त्वादिति वाच्यम् । एकधर्मावच्छिन्नाधिकरणत्वस्यैक्यमते तादृशजातित्वावच्छिन्ना-  
 धिकरणत्वम् एकमेव तथाच तादृशधिकरणत्वे सामानाधिकरण्येन अवच्छेदावच्छेदेन चोभय-  
 थापि आत्मगुणवृत्तित्वाभावसाधने न सिद्धसाधनं तादृशजातित्वसामानाधिकरण्येन आत्मगुणवृ-  
 त्तित्वाभावसाधने तु गुरुत्वमादाय सिद्धसाधनं भवत्येवेति ज्ञापनार्थम् अधिकरणत्वपर्यन्तप्रवे-  
 शादिति ।



भिनिवेशः । उपास्यत्वेन देशितोमन्त्रादिः । यावदुक्तोऽयं यदुपपन्नं  
तेनोपपन्नः । चरणं शाखा । शब्दसिद्धावप्यनुमित्तयाऽनुमितेन  
संशयासत्त्वं दोषाय । तुष्यत्विति न्यायेन संशयमाह, तदि-  
हेत्यादि ॥ ३ ॥

परलोके विप्रतिपत्तिस्तु शरीरवृत्तिजातित्वं दुःखावच्छेदकत्वासमानाधिकरणवृत्ति न वा  
इति स्वर्गं, नरके तु दुःखपदस्थाने सुखपदप्रविपात्तं संशयः, तादृशी च जातिः बाह्यादिशरीर-  
वृत्तिचैवत्वादिकं, अत्र भावकोटिः नैयायिकानां अभावकोटिः चार्वाकाणां स्वर्गोद्यशरीरवृत्ति-  
तच्छरीरत्वजात्यन्तर्भावेण शरीरवृत्तिजातित्वे दुःखावच्छेदकत्वासमानाधिकरणवृत्तित्वम् ।  
परलोकमात्रे तु अहं सुखदुःखोभयजनकमच्छरीरातिरिक्तशरीरवान् न वेति, चैवकथा  
प्रसिद्धः ।

साधने तु कार्यप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्व-प्रागभावान्य-प्रागभावाविषयकप्रतीत्यविषयवृत्ति न  
वा इति अत्र तादृशप्रतीत्यविषयवृत्तित्वम् उभयमते प्रागभावत्वत्वे प्रसिद्धम्, अत्र भावकोटिः  
नैयायिकानां अभावकोट्यार्वाकाणां, नैयायिकैः कारणत्वमङ्गीक्रियते तच्च कार्यनियत-  
पूर्ववृत्तित्ववर्जितं नियतपूर्ववृत्तित्वञ्च प्रागभाववर्जितम् अतः कारणत्वं प्रागभावाविषयकप्रतीत्य-  
विषयः प्रतियोगित्व-प्रागभावान्यञ्च, तद्वृत्तित्वं कार्यप्रतियोगित्वे वर्तते इति नैयायिकमतं,  
चार्वाकैः कारणत्वानङ्गीकारात् तन्मते कार्यप्रतियोगित्वं न कारणत्ववृत्ति, कार्यप्रतियोगित्वञ्च  
साक्षात् परम्परासाधारणं कार्यनिरूपकत्वं, प्रतियोगित्व-प्रागभावान्येत्यत्र प्रतियोगित्वं कार्यत्वं  
तच्च प्रागभावप्रतियोगित्वरूपम् अतः प्रागभावाविषयकप्रतीत्यविषयं तदादाय प्रागभावमादाय  
च सिद्धसाधनवारणाय प्रतियोगित्व-प्रागभावान्यत्वं प्रागभावाविषयकप्रतीत्यविषयविशेषणम् ।  
न च प्रतियोगित्व-प्रागभावान्यप्रागभावाविषयकप्रतीत्यविषयं घटप्रागभावविशिष्टघटसंयोगमादाय  
सिद्धसाधनं तादृशघटसंयोगे घटरूपकार्यप्रतियोगित्वस्य वर्तमानत्वादिति वाच्यम् । प्रागभावा-  
विषयकप्रतीत्यविषयवृत्तिपदेन प्रागभावाविषयकप्रतीतिविषयतानवच्छेदकरूपावच्छिन्ननिरूपक-  
तावृत्तित्वस्य विवक्षितत्वात् घटरूपकार्यप्रतियोगित्वे यत् घटसंयोगवृत्तित्वं तद्वृत्तितावच्छेदकं  
युद्धघटसंयोगत्वमेव न तु घटप्रागभावविशिष्टं तस्याव्यावर्तकत्वेनानवच्छेदकत्वात् युद्धघट-  
संयोगत्वन्तु न प्रागभावाविषयकप्रतीतिविषयतानवच्छेदकमिति सर्वं सुसमञ्जसम् । विशिष्टे तु



धर्माधर्मात्मकालौकिकपरलोकसाधने विप्रतिपन्नं प्रति तत्साधनं,  
सिद्धे च तस्मिन् तदधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः, अचेतनस्य कारणस्य  
सचेतनाधिष्ठानेनैव कार्यजनकत्वात् । तत्साधनायाह,—

सापेक्षत्वादनादित्वाद्वा चित्प्राद्विश्ववृत्तितः ।

प्रत्यात्मनियमाद्भूतो रस्ति हेतुरलौकिकः ॥४॥

अलौकिकोऽतीन्द्रियः परलोकहेतुरस्तीति प्रतिज्ञा । तत्र प्रथ-  
मतः कारणसामान्यसाधनायाह सापेक्षत्वादिति । सापेक्षत्वं  
कादाचित्कत्वं, तथाच कार्यं सहेतुकं कादाचित्कत्वात् भोजन-  
जन्यत्वमिवत् । ननु घटादिहेतोः सदातनत्वे घटादेरपि सदातनत्वा-  
पत्तिः, तथाच तस्य कादाचित्कत्वं वाच्यम्, एवं तत्कारणपरम्परापि  
कादाचित्की सहेतुका वाच्या इत्यनवस्थायासुक्तमनादित्वादिति,

अलौकिके परलोकसाधनत्वं वर्त्तते न वा, परलोकसाधने अलौकिकत्वं वर्त्तते न वेति वा  
विप्रतिपत्तिः । तथाच कार्य-कारणभावाभावे न चित्पादिकर्तृतया ईश्वरसिद्धिः, परलोकसाधने  
च तत्साधनयागादिप्रष्टुरभावे तदुपदेशकतयापि नेश्वरसिद्धिः, अदृष्टासिद्धौ तदधिष्ठा-  
तृतयापि नेश्वरसिद्धिरिति चार्वाकाभिप्रायः । द्वितीयादिविप्रतिपत्तिरीतिस्तु द्वितीयादिश्रवक-  
व्याख्यानावसरे दर्शयिष्यते इति ॥ ३ ॥

तदधिष्ठातृत्येति अचेतनादृष्टजन्यकार्यं चेतनरूपसहकारिकारणतयैत्यर्थः, तथा चायं  
प्रयोगः अदृष्टं चेतनाधिष्ठितम् अचेतनत्वे सति कारणत्वात् क्लृप्तपुरुषाधिष्ठितकुठारवत् । अत्र  
चेतनाधिष्ठितत्वं चेतनरूपसहकारिकारणसम्पन्नत्वं, सापेक्षत्वं सहापेक्षया वर्त्तमानत्वं, कादा-  
चित्कत्वमिति फलितार्थः, सहेतुकमिति सहेतुकत्वं यत्किञ्चिद्वस्तुविशिष्टत्वं वैशिष्ट्यं स्वसत्ता-  
नियतसत्ताकाल-स्वयतिरेकप्रयुक्तव्यतिरेकप्रतिशेगित्वोभय सम्बन्धेन । न च किञ्चित्कालासम्बन्धित्वे  
सति किञ्चित्कालसम्बन्धित्वरूपं कादाचित्कत्वं प्रागभावे व्यभिचारीति वाच्यम् ।  
उत्पत्तिमत्त्वे सतीति विशेषणात् । न च चार्वाकमते साध्याप्रसिद्धिरिति वाच्यम् ।  
किञ्चिद्वा प्रत्यक्षेणैव तस्मिन् तदविषयेऽनुमानात्, अतएव भोजनजन्यत्वमेव दृष्टान्तत्वेनोपादानं  
सङ्गच्छते । अनादित्वादिति कार्यकारणप्रवादस्येति शेषः । अनादित्वञ्च स्वसत्तातीय-



बीजाङ्कुरवत् प्रामाणिकीयमनवस्था न दोषायेत्यर्थः । ननु ब्रह्मैव कारणमस्तु, किं वा नानाबुद्ध्यात्मिका प्रकृतिरेव तथाऽस्तु इत्यत्राह, वैचित्र्यादिति, कार्यं विचित्रकारणवत् विचित्रकार्यत्वात् । ननु दृष्टं यागाद्येव कारणमस्तु किमदृष्टेन इत्यत्राह, विश्ववृत्तित इति, विश्वेषां परलोकार्थिनां वृत्तितः यागादौ प्रवृत्तितः, स्वर्गादिफलकत्वज्ञानमेव यागादिप्रवृत्तिजनकं, यागादेश्च तज्जनकत्वं तत्कालावस्थायिव्यापारं विना न सम्भवतीति अदृष्टसिद्धिः । नन्वादृष्टं न भोगसमानाधिकरणं किन्तु भोग्यादिनिष्ठत्वेनैव भोगजनकम् इत्यत्राह, प्रत्यात्मनियमादिति, भुक्तेर्भोगस्य प्रतिनियतात्मवृत्तित्वात्, व्यधिकरणादृष्टस्य भोगजनकत्वेऽतिप्रसङ्गात् ॥ ४ ॥

ध्वंसव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वम् । ननु कारणमात्रसिद्धावपि कार्यस्य एकम् एकजातीयं वा कारणमस्तु इत्याशङ्कते, नन्वित्यादिना, न च एकस्य ब्रह्मणः नानाबुद्ध्यात्मिकायाः प्रकृतेर्वा कारणत्वे कारणसदातनत्वेन घटादिकार्यस्य सदातनत्वापत्तिरिति वाच्यम् । वेदान्तमतं साङ्ख्यमतञ्चावलम्ब्य तादृशकारणस्य चार्वाकैराशङ्कितत्वात् वेदान्तमते कार्यस्य मिथ्यात्वेन सदातनत्वापत्तेरसम्भवात् साङ्ख्यमते च कार्य-कारणयोरभेदात् कारणसदातनत्वे कार्यसदातनत्वस्यापोहत्वात् । अतएव प्रत्यक्षमात्रप्रमाणवादिचार्वाकमते ब्रह्मणः प्रकृतेः शालीकत्वेन कथं तयोः कारणत्वशङ्का सङ्गच्छते इति पूर्वपक्षोऽपि निरस्तः । वेदान्त साङ्ख्यमताभ्यन्तरेणैव तादृशकारणस्य शङ्कितत्वादिति । कार्यं विचित्रकारणवदिति घटकार्यं पटकारणविजातीयकारणजन्यं पटकार्यविजातीयकार्यत्वादित्यर्थः, तथाच ईदृशानुमानेन कार्ये विभिन्नविजातीयकारणजन्यत्वस्य सिद्धत्वात् नाभिन्नकारणजन्यत्वं न वा एकजातीयकारणजन्यत्वं कार्यजातत्वेति समुदिततात्पर्यम् । भोगस्य प्रतिनियतात्मवृत्तित्वादिति, भोगस्य सुखादिसाक्षात्कारस्य, प्रतिनियतात्मवृत्तित्वात् प्रत्येकात्मनियतत्वात्, तथाच कारणं कार्यसमानाधिकरणं कार्यजनकत्वात् इति सामान्यव्याख्या अदृष्टं भोगसमानाधिकरणं भोगजनकत्वात् इति विशेषव्याख्या च अदृष्टस्य भोगसमानाधिकरणं सिद्धं न तु भोग्यनिष्ठत्वम् । ननु समवायेन अदृष्टस्य भोग्यनिष्ठत्वेऽपि कालिकसम्बन्धेन भोगसमानाधिकरणात् न विरोध इत्यत आह, अतिप्रसङ्गा-



अकस्मादेव भवति, न किञ्चिदपेक्षं कार्यमिति, अतएव “अनि-  
मित्ततोभावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्” इति पूर्वपक्षसूत्रं  
(न्यायसूत्रं ४।२२) तत्राह ।

हेतु-भूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।

स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥ ५ ॥

अकस्मादिति किं हेतुनिषेधपरं भवननिषेधपरं वा, स्वाति-  
रिक्तहेतुनिषेधपरं पारमार्थिकहेतुनिषेधपरं वा, अत्रोभयत्रा-  
हेतुकत्वमलौकिकहेतुकत्वञ्च पर्यवस्यति, स्वभावादित्यर्थपरं वा ।

इति तथाच कालिकसम्बन्धेन भोगं प्रति कालिकसम्बन्धेन अदृष्टस्य कारणत्वे पुरुषान्त-  
रीयादृष्टात् पुरुषान्तरीयभोगोत्पत्तिः स्यादिति । न च पुरुषविशेषान्तर्भावेण कार्ये कारणभावे  
न तदापत्तिरिति वाच्यम् । पुरुषविशेषान्तर्भावेण कार्य-कारणभावे अनन्तकार्य-कारणभाव-  
प्रसङ्गात् ॥ ४ ॥

कादाचित्कम् अहेतुकं भावत्वात् गगनवदिति सत्प्रतिपक्षमाशङ्कते, अकस्मादेवेति । न  
किञ्चिदपेक्षमिति न स्वाश्ववहितनियतपूर्ववर्तितावच्छेदकयत्किञ्चिद्भर्मकम्, अनिमित्तपदस्याप्य-  
यमर्थः, भावपदं वस्तुपरं तेन ध्वंसस्वापि सकारणकालनिरासः । तथाच कादाचित्कत्वं न  
हेतुसाधकमप्रयोजकत्वादिति भावः । अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरिति अनिमित्तत इति प्रथमा-  
न्तात् तसिल् अनिमित्ता भावोत्पत्तिरित्यर्थः, तथाचायं प्रयोगः घटाद्युत्पत्तिः न कारणनियम्या  
उत्पत्तित्वात् कण्टकतैक्ष्ण्याद्युत्पत्तिवत् । तैक्ष्ण्यं संस्थानविशेषः, आदिपदात् मयूरचित्रादिपरिग्रहः ।  
अवधेर्नियतत्वतः नियतावधिककार्यदर्शनात् कार्यस्य नियतकालवृत्तित्वदर्शनादिति यावत्, न  
हेतुनिषेधः न कारण प्रतिषेधः, न भूतिनिषेधः न भवनप्रतिषेधः, स्वानुपाख्यविधिः स्वं कार्यम्,  
अनुपाख्यम् अलौकिकं, तयोः विधिः कारणत्वविधानं न, नैव स्वभाववर्णना स्वभावस्य हेतुत्वम्  
इति समुदितकारिकायः । अकस्मादित्यत्र किंशब्दो यदि हेतुभावपरः तदा तस्य नञा सम्बन्धात्  
हेत्वभावे भवनं लभ्यते, यदि तु भवनक्रियाया नञा सङ्गन्धः तदा प्रसज्यप्रतिषेधे भवननिषेधोऽर्थः,  
किं शब्दसमसमानेनापि नञा भवतीत्यस्मान्वात् । असामर्थ्येऽप्यस्यैव्यग्या राजद्वारा इति-  
वत् समासः । अशब्दस्यैव वाच्यं समासं विना प्रयोगः अ-मा-भो-ना निषेधवचनाः इति कोषात्



स्वं कार्यम्, अनुपाख्यम् अलोकम् । अवधेर्नियतत्वतः नियतावधिक-  
कार्यदर्शनात् अनियतावधिकत्वे च कादाचित्कत्वव्याकोप इति  
भावः ॥ ५ ॥

नन्वनादिष्वेतु कार्य-कारणप्रवाहः कादाचित्कत्वान्यथानुप-  
पत्त्या कल्पस्तदा वज्रित्वावच्छिन्नस्य तृणादिव्यभिचारितया तृणाद्य-  
कारणत्वे कादाचित्कत्वव्याकोपः कारणान्तरस्य च वक्तुमशक्य-  
त्वात् । तत्र वज्रानुकूलैकशक्तिमत्त्वेन कारणता शक्तिश्च पदार्था-  
न्तरं प्रतिव्यक्ति नाना अनित्ये अनित्या “नित्ये नित्यैव सा शक्तिर-

तदुभयं निरस्यति हेतु-भूतीति । यदि विशिष्ट एव नञोऽन्वयात् हेतुप्रयोज्यभवनाभावो  
लभ्यते तदा एकविशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाफलकत्वात् पर्युद्वासनया वा हेतुव्यतिरिक्ताङ्गवनं  
लभ्यते, हेतुव्यतिरिक्तञ्च कार्यस्वरूपम् अलोकञ्च, तथाच खानुपाख्यविधिः तं निषेधति  
खानुपाख्येति, यदि अकस्मादिति शब्दः अत्र अखण्डाव्ययः सभावपरः तदा स्वभावादेव कार्यस्य  
कादाचित्कत्वमित्यर्थः, तदाह, स्वभावेति । उभयवेति हेतु-भूतिनिषेधपक्षे खानुपाख्यविधिपक्षे  
ष्वेत्यर्थः, प्रथमपक्ष-मभिप्रेत्याह, अहेतुकत्वमिति, हेतुनिषेधपक्षे कार्यस्य हेतुनिरपेक्षत्वमर्थः,  
भूतिनिषेधपक्षे कार्यस्य अनुत्पत्तिकत्वमर्थः, अन्यपक्षमभिप्रेत्याह, अलोकहेतुकत्वचेति, न च  
अन्ये कार्यहेतुकत्वम् अलोकहेतुकत्वञ्च इयं कथम् अलोकहेतुकत्वं पर्यवस्यतीत्युक्तिः सङ्गच्छते  
इति वाच्यम् । यतः कार्यस्य कार्यपूर्ववर्तितासम्भवात् कार्यहेतुत्वं न सम्भवति अतः  
कार्यहेतुकत्वपक्षेऽपि अलोकहेतुकत्वे पर्यवसानम् अत उक्तं पर्यवस्यतीति । अनियता-  
वधिकत्वे कार्यस्य नियतकालावृत्तित्वे, कादाचित्कत्वव्याकोपः पूर्वोक्तकादाचित्कत्वव्याघात-  
इत्यर्थः ॥ ५ ॥

कादाचित्कत्वस्य सहेतुकत्वव्यभिचारितया न सहेतुकत्वानुमापकत्वं सम्भवति इत्याशङ्क्य  
निराकरोति, नन्वनादिष्वेत्यादिना, ननु वज्रेः तृणादिजन्यतया कथं तदन्तर्भावेण कादा-  
चित्कत्वं सहेतुकत्वव्यभिचारि इत्यत आह, वज्रित्वावच्छिन्नस्येति तृणसमवधानं विनापि  
मृणादिसमवधानात् मृणादिसमवधानं विनापि तृणसमवधानात् वज्रानुपपत्तेः न तृणादिकं  
वज्रिकारणम् । ननु तृणादेः कारणत्वासम्भवेऽपि तृणादिभिन्नं वज्रिकारणमस्तु इत्यत आह,



नित्ये भावहेतुजा” इति तत्सिद्धान्तात् । वज्रगुणकूला दृष्टारणि-  
मणिनिष्ठा शक्तिर्नित्येति तु मतान्तरम् । न्यायमतन्तु दृष्टादिजन्य-  
तावच्छेदकं वैजात्यमेव, विजातीयेष्वेकजातीयकार्यानुकूलशक्ति-  
कल्पने धूमादिना वज्रगुणमानं न स्यात्, न स्याच्च दृष्ट-फुत्कारसमव-  
धानस्य निर्मल्यनारणिसमवधानस्य प्रतिफलितरविकिरणमणिसम-  
वधानस्य च प्रतिनियमः कारणतावच्छेदकावच्छिन्नस्यैव कारण-  
तावच्छेदकान्तरावच्छिन्नसमवधाने कार्यजननस्य दृष्टत्वात् फुत्कार-  
मणिसम्बन्धादितोऽपि वज्रगोपत्तेः । यदि च दृष्टफुत्कारादि-  
सम्बन्धादिषु वज्रगुणकूला एका शक्तिः कल्प्यते तदा नैतत् समा-  
धानं परन्तु तार्णवज्रगोपदिष्टं वैजात्यं प्रत्यक्षसिद्धं दीपत्वादिवदिति  
न पदार्थान्तरशक्तिकल्पनम् । अमुमर्थमाह,—

कारणान्तरस्य चेति । तथाच सहेतुकत्वस्य कादाचित्कत्वव्यापकत्वे व्यापकस्य सहेतुकत्व-  
स्याभावात् वज्री व्याप्यस्य कादाचित्कत्वस्याभावप्रसङ्गात् सहेतुकत्वसिद्धौ अदृष्टासिद्ध्या न  
अदृष्टाधिष्ठातृतया न वा चित्यादिकर्तृतया ईश्वरसिद्धिरिति भावः । अथ मीमांसकः समाधत्ते  
तत्त्वत्वादिना, वज्रगुणकूलैकशक्तिमत्त्वेन वज्रगुणकूलैकजातीयशक्तिमत्त्वेनेत्यर्थः, अतः शक्तोः प्रति-  
व्यक्तिनानालेऽपि न चतिः । भावहेतुजो भावः पदार्थः तस्य यो हेतुः तस्मात् शक्तिर्जायत इत्यर्थः,  
तथाच यन्निष्ठा शक्तिः कल्प्यते तस्य यो हेतुः स एव तन्निष्ठशक्तौ हेतुः न तु हेतुन्तरकल्पनापेक्षेति  
भावः । तत्सिद्धान्तात् मीमांसकसिद्धान्तादित्यर्थः । मतान्तरं मीमांसकविशेषाणां मतम् ।  
नैयायिकसमाधानमाह, न्यायमतन्त्विति । वैजात्यमेवेति, तथाच तार्णत्वातार्णत्वादि-  
वैजात्यस्य दृष्टादिजन्यतावच्छेदकत्वान्न व्यभिचारः इति भावः । धूमादिनेति यथा विजातीयानां  
दृष्टादीनाम् एकजातीयवज्रगुणकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वं, तथा विजातीयानां वज्रगोप-  
मपि एकजातीयधूमकार्यानुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वं, तथाच कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्य  
कारणतावच्छेदकावच्छिन्नानुमापकत्वात् वज्रित्वस्य धूमकारणतानवच्छेदकत्वे धूमत्वावच्छिन्नस्य  
तदवच्छिन्नानुमापकत्वं न स्यादिति भावः । प्रतिनियमः दृष्टाद्येकतरसहकारेण वज्रविशेष-  
जनकत्वनियम इत्यर्थः । फुत्कार-मणिसम्बन्धादितोऽप्येति, दृष्टत्वादिति, कारणतानवच्छेदकतया



प्रवाहो नादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् ।

तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वय-व्यतिरेकयोः ॥६॥

एष कार्य-कारणप्रवाहः नादिमान् अनादिः । विजातीयेषु  
दृष्टादिषु एकशक्तिमान् न प्रवाहः । अन्वय-व्यतिरेकयोस्तत्त्वे  
नियतत्त्वे निर्वाह्ये यत्नवता भाव्यं यत्नः करणीयः । वैजात्यं कल्प-  
नीयमिति भावः । वज्रिसामान्यं प्रति तु विजातीयोऽणस्पर्शवत्तेज-  
एव कारणम् ॥ ६ ॥

तदवच्छिन्नसहकारितायाः फुत्कारादेर्वक्तुमशक्यतया वज्रानुज्ञाशक्तिमत्त्वावच्छिन्नस्यैव सह-  
कारितया फुत्कार-सहकारेण मण्डादितोऽपि वज्रानुत्पत्त्यपत्तिरिति भावः । दीपत्वादिवदिति,  
यथा दीपत्वम् आलोकविशेषजनकतावच्छेदकं वैजात्यं प्रत्यक्षसिद्धं तथा तार्णत्वादिकमपि  
दृष्टादिजन्यतावच्छेदकं विलक्षणवैजात्यं प्रत्यक्षसिद्धमिति । न पदार्थान्तरशक्तिकल्पनमिति,  
तथाच लाघवमेवातिरिक्तशक्तिकल्पने बाधकमिति भावः । अनुमर्शमाहेति अनुमर्शमभिप्रेत्या-  
हेत्यर्थः ।

कार्य-कारणप्रवाह इति कार्याणां कारणानाञ्च प्रवाह इत्यर्थः, न आदिमान् न  
अवधिमान् न हेलनधीनकार्यकालीन इति यावत्, तन्नाञ्च कार्यमात्रं सहेतुकं न तु किमपि  
वज्रादिकार्यम् अहेतुकमिति वज्रादौ कादाचित्कत्वं न सहेतुकत्वव्यभिचारि, न वा  
कार्यत्वावच्छेदेन सहेतुकत्वसाधने वज्रादावंगतः सिद्धसाधनमिति भावः । विजातीयेष्विति  
कारिकोक्तविजातिपदसाधः, एकशक्तिमानिति विजातीयदृष्टादिनिष्टैकशक्त्यवच्छिन्नकारणताश्रय-  
इत्यर्थः । ननु कथं प्रागुक्तव्यभिचारवारणमित्यत आह, कारिकायां तत्त्व इति, व्याख्यायाम्  
अन्वय-व्यतिरेकयोस्तत्त्व इति वज्राद्यन्वय-व्यतिरेकयोः दृष्टाद्यन्वय-व्यतिरेकनियतत्व इत्यर्थः,  
वैजात्या कल्पनीयमिति, तथाच दृष्टादिजन्यतावच्छेदकत्वेन वज्रादिनिष्ठतार्णत्वादिद्वैजात्यं  
कल्पयित्वा तेषामेव दृष्टादिजन्यतावच्छेदकत्वस्य कल्पनीयत्वान् न प्रागुक्तव्यभिचार इति भावः ।  
ननु तार्णत्वादवच्छिन्नं प्रति दृष्टादौः कारणत्वेऽपि वज्रित्वावच्छिन्नं प्रति शक्तिमत्त्वेन कारणत्व-  
स्वानश्वसङ्गीकर्तव्यत्वात् शक्तेरवश्यकल्पनीयत्वमित्यत आह, वज्रिसामान्यं प्रति स्थिति ॥ ६ ॥



ननु यथा एक एव दीपः आलोककारी वर्त्तिविकारकारी घटादि-  
प्रकाशकारी च तथा एकमेव ब्रह्म किं वा कार्य-कारणयोरभेदात्  
प्रतिपुरुषं विभिन्नबुद्धेरभिन्ना प्रकृतिरेव हेतुरसु तथाच नादृष्टाधि-  
ष्ठातृतयेश्वरसिद्धिरित्यत्राह,

एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्याच्च समस्य न ।

शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥७॥

एकस्य कारणस्य नियम्यो न कार्याणां क्रमः, समस्य एक-  
जातीयकारणस्य प्रयोज्यञ्च न कार्याणां वैचित्र्यं वैजात्यं, तथाच  
क्रमिककार्यनिर्वाहकतया क्रमिककारणसिद्धिः, विजातीयकार्य-  
जनकतया च विचित्रहेतुसिद्धिरित्यर्थः । शक्तिभेदादेव सजातीया-  
देकस्मात् कार्यवैजात्यम् इति शङ्कां निराकुरुते शक्तिभेदो न

ननु कार्यस्य क्रमिकत्वं न क्रमिककारणत्वसाधकं, तथा कार्यवैचित्र्यमपि न विचित्र-  
कारणत्वसाधकम्, आलोक-वर्त्तिविकार-घटादिप्रकाशेषु विचित्रेषु च एकैस्त्रैव दीपस्य  
हेतुत्वेन व्यभिचारादिति बाधकाभावेन सकलकार्येषु एकहेतुकत्वं सिद्धातीत्याशयेनाह,  
नन्वित्यादिना । एकमेव ब्रह्मेति वेदान्तमतसमुत्थानम्, अभिन्ना प्रकृतिरेवेति सांख्यमत-  
समुत्थानम्, एतेन एकजातीयकारणमुक्तम् । सांख्यमते पुरुषाणां भेदात् प्रतिपुरुषञ्च  
महत्तत्त्वापरपर्यायाणां बुद्धीनां भेदोऽपि प्रकृतिविकारत्वात् प्रकृतेर्बैकत्वात् एकजाती-  
यत्वम् । नादृष्टाधिष्ठातृतयेति । न च वेदान्तादिमते अदृष्टस्य निष्पत्त्युद्भूतया कथमेतत्-  
सङ्गतिरिति वाच्यम् । वेदान्तादिमतमवलम्ब्य चावाकैरित्यस्य शङ्कमानत्वान्न सङ्गति-  
रिति ।

कारिकायाम् एकस्येत्यादि, पञ्चमः नियम्यत्वं, क्वापि कुत्रापि कार्ये क्रमः क्रमिकत्वं  
न एकस्य न एककारणनियम्यमित्यर्थः । व्याख्यायां क्रम इति क्रमः क्रमिकत्वम् अर्थोपपद्यम्  
एककार्यान्तररक्षणोत्पत्तिकत्वं कार्यान्तरस्येति यावत् । तथाच एतद्वचो यदि तद्वच-  
कारणमात्रजन्यः स्यात् तदा तद्वचोत्पत्तिरूपोत्पत्तिकः स्यादित्यापत्तिरेव कार्यजातस्य  
एकमात्रकारणजन्यत्वे बाधकैति भावः । कार्याणां वैचित्र्यमिति तथाच पटो यदि घट-



चाभिन्न इति । चो हेतौ, न शक्तिभेदः अभिन्नो यतः, शक्ति-शक्ति-  
मतोरभेदात्, भेदे च तस्यैव कारणत्वस्वीकारे एकमात्रकारणत्वमङ्ग-  
प्रसङ्गो हेतापत्तिश्चेत्यर्थः । ननु स्वभावादेव एककारणस्य विचित्र-  
कार्यनिर्वाहकत्वम् इत्यत्राह, स्वभावो दुरतिक्रम इति । एकस्मिन्  
कार्ये जनयितव्ये यः स्वभावः कार्यान्तरजननकाले तस्यानुवृत्तौ  
दहनस्यापि जलादित्वं स्यात् स्वभावस्य दुरपङ्गवत्वादित्यर्थः, प्रदीप-  
स्थले तत्तत्कार्यसामग्रीभेदकल्पनादिति भावः ॥ ७ ॥

ननु दण्डादिर्घटादौ हेतुरस्य न तु यागादिः स्वर्गादिहेतुरित्य-  
त्राह ।

विफला विप्रवृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा ।

दृष्टलाभफला वापि (१) विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥८॥

विशेषां परलोकार्थिनां स्वर्गाद्यर्थं यागादौ प्रवृत्तिर्विफला न,  
न वा दुःखमात्रफलिका, प्रवृत्तेरिष्टसाधनताधीसाध्यत्वात् । न च

कारणसमानजातीयकारणमावजन्यः स्यात् तदा घटविजातीयो न स्यादित्यापत्तिरेव कार्यजातस्य  
एकजातीयकारणजन्यत्वे वाधिकेति भावः । सजातीयादेकस्यादिति, सजातीयादिति  
सांख्यमतमभिप्रायेण, एकस्यादिति वेदान्तमतमभिप्रायेण, न शक्तिभेद इति क्रमिकत्वादिति  
नियामक इति शेषः । अभिन्नो यत इति धर्म्याभिन्नो यत इत्यर्थः । ननु स्वभावादेवेति,  
पूर्वं कार्यस्य स्वीयस्वभावाधीनत्वं दूषितम् इदानीम् एककारणगतस्वभावमादायागइति भावः ।  
दहनस्यापि जलादित्वं स्यादिति एकस्मिन् कार्ये यस्य स्वभावस्य जनकत्वं कार्यान्तरेऽपि  
तस्यैव जनकत्वं वाच्यम् अन्यथा एकस्य स्वभावभेदादेकत्वादिविहानिप्रसङ्ग इत्येकस्वभाव-  
जन्यत्वेन विजातीयकार्याणामप्येकजात्यं स्यादित्यर्थः । दुरपङ्गवत्वादिति दुष्परिहाय्यत्वादित्यर्थः ।  
तत्तत्कार्यसामग्रीभेदेति वर्तिसंयोगादिघटितसामग्रीभेदकल्पनादित्यर्थः । अन्यथा आलोका-  
दीनां युगपदुत्पत्त्यापत्तिरिति ॥ ७ ॥

(१) दृष्टलाभफला नापि इति कस्यचित् पुस्तकस्य पाठः स एव समीचीनः ।



दृष्टलाभफला पूजा ख्याति-धनादिफला, तन्निरपेक्षैरपि तदाचर-  
णात् । केनचित् प्रतारकेण स्वर्गादिफलकतया यागादिकं प्रकल्प्य  
स्वयमनुष्ठाय धन्वितो लोकः प्रवर्तते इत्यत्राह, विप्रलम्भोऽपि  
नेदृश इति, क एवं लोकोत्तरो यः परप्रतारणार्थं नानाविधक्लेश-  
हेतुकर्मभिरात्मानमवसादयेत् । तथाच यागादिप्रवृत्तिरेव स्वर्गादि-  
फलकत्वे यागादेर्मानमिति ॥ ८ ॥

ननु यागादिकं स्वर्गादिहेतुरस्तु, न तु तज्जन्यादृष्टं तथेत्यत-  
आह,—

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना ।

सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥ ९ ॥

चिरध्वस्तं यागादि कर्म अतिशयं तत्फलानुकूलव्यापारं विना  
फलाय न अलं न समर्थं, चिरध्वस्तकारणस्य व्यापारद्वारैव हेतुत्वं,  
यथा अनुभवस्य संस्कारद्वारकस्य स्मृती । ननु भोग्यनिष्ठमदृष्टं

घटादिः प्रत्यक्षसिद्धतया तत्र दृष्टादेहेतुत्वेऽपि स्वर्गादी प्रमाणाभावात् तद्वहेतुत्वं यागादेर-  
सिद्धमित्याशङ्क्या निरस्यति, नन्वित्यादिना । यागादेर्मानमित्येति, तथाच यागः सफलः  
अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात् इत्यनुमानेन सामान्यतः सफलत्वे सिद्धे दृष्टफलकत्ववाधात्  
अदृष्टफलकत्वसिद्धौ अदृष्टादिष्ठादृतयेश्चरसिद्धिरिति भावः ॥ ८ ॥

नन्वित्यादि, न तु तज्जन्यादृष्टमिति, तथाच यागस्य स्वर्गहेतुत्वेऽपि स्वजन्यध्वंसवत्त्व-  
सम्बन्धेनैव हेतुत्वं न तु स्वजन्यादृष्टवत्त्वसम्बन्धेनेति भावः । चिरध्वस्तमिति फलोत्पत्ति-  
प्राक्क्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगीत्यर्थः, अचिरविनष्टस्य दृष्टद्वारापि कारणतासम्भवः चिकीर्षा-  
द्वारा कृतिसाध्यताज्ञानस्य प्रवृत्ताविवेति चिरपदं ध्वंसरूपक्रियाविशेषणम् । व्यापारद्वारैव  
भावरूपव्यापारद्वारैवेत्यर्थः, हेतुत्वमिति, न च यागस्य ध्वंसद्वारैव हेतुत्वं न त्वदृष्ट-  
द्वारैति वाच्यम् । स्वर्गधारापतेः स्वर्गोत्पादानन्तरमपि ध्वंसरूपव्यापारस्य सत्त्वात् प्रति-  
योग्यभावयोरैकक्षिन् कार्ये हेतुत्वे प्रमाणाभावाच्च । अत्रायं प्रयोगः चिरध्वस्तयागादिकं  
स्वजन्यव्यापारवत्त्वसम्बन्धेन फलजनकं साक्षात्सम्बन्धेन फलोत्पत्तिप्राक्क्षणावहित्वे सति



कारणमस्तु इति जिज्ञासायामाह, सम्भोग इति, निर्विशेषाणाम्  
अदृष्टरूपगुणशून्यानाम् आत्मनां सम्भोगः प्रत्यात्मनियतो भोगः,  
संस्कृतैरपि अदृष्टवत्तया स्वीकृतैरपि भूतैर्न स्यात्, भूतानां शरीरा-  
दीनां सर्वात्मसाधारण्यात्, तददृष्टाकृष्टैरेव शरीरेन्द्रियादिभिः  
तन्मोगजननादित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु भोग्यादिनिष्ठ एव धर्मविशेषोऽतीन्द्रियः प्रतिनियतभोगादि-

फलजनकत्वात् स्मृतिजनकानुभववदिति । ननु यागकर्तृस्वर्गे प्रति शरीरेन्द्रिय-सकृच्चन्द-  
नादिविशेषाणां हेतुतानियमाय तेषु यागजन्यसंस्कारविशेषः भोगकारणतावच्छेदकतया  
अवश्यमङ्गीकार्यः तस्यैव स्वर्गजनकत्वसम्भवे आत्मनिष्ठादृष्टकल्पनं व्यर्थमित्याशङ्कते,  
नन्विति, सम्भोग इतीति, तथाच यागजन्यादृष्टवद्भूतत्वेन स्वर्गहेतुत्वे प्रत्यात्मनियतभोगा-  
नुपपत्तिरिति भावः । अत्र हेतुमाह, सर्वात्मसाधारण्यादिति आत्मनः सर्वमूर्तसंयोगानु-  
योगित्वेन शरीरादीनां सर्वात्मसंयुक्तत्वादित्यर्थः । तथाच अदृष्टस्य भोग्यनिष्ठत्वे भोगं  
प्रति स्वाश्रयसंयुक्तत्वसम्बन्धेन अदृष्टहेतुत्वस्य वाच्यतया पुरुषान्तरकर्मजन्यादृष्टेन पुरुषान्तर-  
भोगापत्तिरिति भावः । न च तत्पुरुषीयस्वर्गे प्रति तत्पुरुषीययागजन्यादृष्टं हेतुरिति  
विशिष्य कार्य-कारणभावात् न तदापत्तिरिति वाच्यम् । पुरुषविशेषमन्तर्भाव्य अजन-  
कार्य-कारणभावकल्पनापेक्षया समवायवष्टितप्रत्यासत्त्या भोगादृष्टयोः कार्य-कारण-  
भावस्य लघुत्वात् । ननु भोग्यनिष्ठादृष्टं विना कथं भोग्यनियम इत्यत आह, तद-  
दृष्टाकृष्टैरेवेति, तथाच तत्पुरुषीयादृष्टजन्यशरीरादिभोगं प्रति स्वजनकादृष्टवत्त्वसम्बन्धेन  
भूतानां हेतुत्वात् भोग्यविशेषनियमोपपत्तिरिति भावः । न च भोग्यनिष्ठादृष्टस्य “प्रत्या-  
त्मनियमादृष्टमुक्तेः” इत्यनेन पूर्वमेव निरस्तत्वात् “सम्भोगो निर्विशेषाणाम्” इत्यस्य पौनरुक्त्या-  
मिति वाच्यम् । “सम्भोगो निर्विशेषाणाम्” इत्यादेः प्रागुक्तस्यैव विवरणत्वेन पौनरुक्त्या-  
सम्भवात् । न चादृष्टस्य भोग्यनिष्ठत्वेऽपि अदृष्टाधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिसम्भवात्  
अदृष्टस्य आत्मनिष्ठत्वसाधनमर्थान्तरमिति वाच्यम् । यददृष्टाधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः  
तस्यादृष्टस्य आत्मनिष्ठत्वं न भोग्यनिष्ठत्वमिति वस्तुगतिमनुरूप्यैव अदृष्टस्य आत्मनिष्ठत्व-  
साधनादिति ॥ ९ ॥

तनु, वस्त्री दाहानुकूलशक्तिवत् भोगसाधनवनितादिशरीरे भोगजनकतावच्छेदिका



नियामकोऽस्तु, यथा दाहादिनियामको वज्रादिनिष्ठः शक्तिभेदः, अन्यथा तादृशादेव करतलानलसंयोगात् सति प्रतिबन्धके दाहापत्तेः । न च मण्याद्यभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यम् । कारणत्वस्य भावत्वव्याप्तत्वात् किन्तु शक्तिनाशं करोतीति मण्यादिः प्रतिबन्धक उच्यते, तथाच शक्तिः स्वीकार्या इत्यत्राह ।

भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्य्यवन्मतः ।

प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥ १० ॥

यथाऽन्वय-व्यतिरेकादिना अभावो ध्वंसः कार्य्यः तथाऽभावः कारणमपि कारणत्वं भावत्वव्याप्यमित्यस्याप्रयोजकत्वात् । अकिञ्चित्करस्य प्रतिबन्धकत्वानुपपत्तिरित्यत्राह, प्रतिबन्ध इति, विसा-

शक्तिः स्वीकार्या सा च यागादिजग्यादृष्टत्वात् तदतिरिक्तकल्पने गौरवात् तच्चादृष्टं काली प्रथमतो जातं तत्तद्वनितादिशरीरे जाते तन्निष्ठतया भोगजनकतावच्छेदकमिति तादृशस्यान्वयनिष्ठतेत्यभिप्रायेणाह, ननु भोग्यादिनिष्ठ एवेति, तथाचायं प्रयोगः, कारणानि स्वजन्यकार्यानुकूलाविष्टातीन्द्रियधर्मवन्ति कारणत्वात् वज्रादिवेत् इति, अनुकूलरूपादिमादायांशतः सिद्धसाधनवारणाय स्वजन्यानुकूलिति, प्रत्यवदात्मसंयोगवारणाय विधेति, उष्णस्पर्शवारणायतीन्द्रियेति । न चावच्छेदावच्छेदेन साध्यसाधने नाशतः सिद्धसाधनं दोष इति वाच्यम्, प्राचीनमते तस्यापि दोषत्वात् । अन्यथेति तादृशशक्त्यनङ्गीकार इत्यर्थः, तादृशादिवेति प्रतिबन्धकासमवधानदशायां यादृशात् करतलानलसंयोगात् दाहो जायते तादृशादित्यर्थः, तनु अभावस्याकारणत्वे कारणीभूताभावप्रतियोगित्वरूपं प्रतिबन्धकत्वं कथं मण्यादौ सम्भवतीत्यत आह, किन्त्विति, तथाच तन्मते कारणताविषयकत्वमेव प्रतिबन्धकत्वं न तु कारणीभूताभावप्रतियोगित्वम् इति भावः ।

कारिकायां भावो यथेति, यथा येन प्रकारेण, कारणतायाहकान्वयव्यतिरेकानुविधानेनेति\*यावत्, भावः कारणं, तथा अभावोऽपि कारणम् । ननु कारणत्वस्य भाव-



मग्नौ कारणाभावः, स च प्रकृते मग्न्याद्यभावस्याभावो मग्न्यादिः  
तत्समवधानहेतुः पुरुष एव प्रतिबन्धकः, स्वार्थे कप्रत्ययेन च मग्न्यादौ  
प्रतिबन्धकपदप्रयोग इति भावः । मीमांसकास्तु उत्तेजकाभावकूट-  
विशिष्टमग्न्यभावत्वेन हेतुत्वे गौरवात् लाघवाच्छक्तिर्नित्या वज्रादौ  
कल्प्यते । प्रतिबन्धके सति शक्तिकुण्डनम् । यत्तु शक्तिः प्रथमतो  
वज्रिकारणजन्या वज्रनिष्ठा, प्रतिबन्धकेन च तस्या विनाशे उत्ते-  
जकेन च पुनर्जननम् । न च शक्तेरनियतहेतुकत्वम् इति वाच्यम् ।  
शक्त्यनुकूलशक्तिमत्त्वेन कारणत्वादिति, तत्र, वज्रनिष्ठनानाशक्ति-  
कल्पनापेक्षया उत्तेजकाभावविशिष्टमग्न्यभावस्यैकस्यैव वरं हेतुत्वौ-  
चित्यात् । तथाचाकुण्ठितशक्तिरेव तत्र कारणतावच्छेदिका कल्प्यते

त्वव्याप्यत्वमिति नियमो व्यभिचार इत्यत आह, कार्यवदिति, यथा ध्वंसरूपाभावस्य  
किञ्चिद्वस्तुनियतोत्तरवर्तित्वेन किञ्चिद्वस्तुकार्यत्वं तथा अभावस्य किञ्चिद्वस्तुनियत-  
पूर्ववर्तित्वेन किञ्चिद्वस्तुकारणत्वं, भावलस्य कारणत्वव्याप्यत्वे तुल्ययुक्त्या कार्यत्वव्याप्यत्व-  
मपि स्यात् इति भावः । ननु मग्न्याद्यभावस्य कारणत्वे सिद्धे मग्न्यादिः प्रतिबन्धकत्व-  
मवश्यं वाच्यं तच्च मग्न्यादौ कथं सम्भवति, प्रतिपूर्वकबन्धभात्तरकर्तृविहितनकप्रत्यय-  
सिद्धप्रतिबन्धकपदेन प्रतिबन्धकर्तृत्वबोधनात् अचेतने अकिञ्चित्कुर्वाणे मग्न्यादौ तद-  
सम्भवादित्याह, व्याख्यायाम् अकिञ्चित्कारणेति । प्रतिबन्धकपदप्रयोग इति, तथाच  
प्रतिबन्धसमवधानहेतुभूतपुरुष एव, प्रतिबन्धकपदस्य मुख्यप्रयोग इति भावः । एवञ्च  
वज्रादिनिष्ठदाहानुकूलातिरिक्तशक्तिरूपदृष्टान्तासिद्ध्या नोक्तानुमानेन भोग्यनिष्ठादृष्ट-  
सिद्धिरिति तात्पर्यम् । न च अदृष्टरूपशक्तेः भोग्यानिष्ठत्वे केन रूपेण भोग्यानां भोग-  
साधनत्वमिति वाच्यम् । यथा वज्रादेः वैजाल्यरूपेण दाहादिहेतुता तथा भोग्यशरी-  
रादीनामप्यदृष्टजन्यतावच्छेदकवैजाल्यादिनैव हेतुत्वात् । न चात्मन एवादृष्टं न तु  
भोग्यानामित्यत्र किं विनिगमकमिति वाच्यम् । अनन्तभोग्यनिष्ठानन्तादृष्टकल्पनावेक्षया  
एकात्मनिष्ठादृष्टकल्पनस्यैव लघुत्वात् । उत्तेजकाभावकूटेत्यादि, उत्तेजकत्वं प्रतिबन्धक-  
तावच्छेदकौभूताभावप्रतियोगित्वं, मन्वीषधाद्यभावविशिष्टमग्नौः प्रतिबन्धकत्वेन प्रति-  
बन्धकतावच्छेदकौभूताभावप्रतियोगिनो मन्वीषधादेरुत्तेजकत्वम् । शक्तिकुण्डनमिति,



इत्याहुः । तन्न, शक्तिकुण्डने प्रतिबन्धकस्य हेतुत्वमुत्तेजकस्य कुण्डित-  
त्वविनाशकत्वमित्याद्यनन्तशक्तिकल्पनापत्तेरिति दिक् ॥ १० ॥

ननु “ब्रीहौन् प्रोक्षति” “ब्रीहौनवहन्ति” इत्यत्र प्रोक्षणजन्यः  
कालान्तरभाव्यवघातजनको व्यापारो ब्रीहिनिष्ठः कल्प्यते, “प्रोक्षिता-  
एव ब्रीहयोऽवघाताय कल्प्यन्ते” इति वाक्यशेषात् । किञ्च यो  
यज्ञतफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठफलजनकव्यापारजनकः यागवत्,  
किञ्च ब्रीह्यादीनामापरमाख्यन्तभङ्गे ब्रीह्यादिनियमानुपपत्तिः । एवं  
माघकर्षणादिना भूमिनिष्ठा कृषिजन्या शक्तिर्निर्वाच्या ।

अत्रोत्तरम् ।

कुण्डनं तिरोभावः, स च मीमांसकमते शक्तिनिष्ठः कथितिरिक्तपदार्थः । मीमांसकः  
एकदेशिमतमुल्याय दूषयति, बलित्यादिना, अनियतहेतुकत्वमिति कदाचित् वज्रि-  
कारणजन्यत्वं, कदाचिच्च उत्तेजकजन्यत्वमित्यर्थः, तद्यच्चोभयसाधारणानुगतैकरूपाभावात्  
न कार्य-कारणभावसम्भव इति भावः । वरं मनागिष्टम् अस्य न्यायमतसिद्धत्वात्  
मनागिष्टत्वम् ॥ १० ॥

मीमांसकः पुनः शङ्कते, नन्वित्यादिना, प्रोक्षणस्यावघातजनकव्यापारजनकत्वे  
प्रमाणं दर्शयति, प्रोक्षिता एवेति प्रोक्षणविशिष्टा एवेत्यर्थः, अवघातायेति, अत्र चतुर्थ्यर्थः  
जनकत्वं कल्पनं सम्बन्धः, आश्रयत्वम् आख्यातार्थः, एवञ्च प्रोक्षणविशिष्टब्रीहौ अवघात-  
जनकत्वरूपसम्बन्धाग्रयत्वभावे विशेषणं प्रोक्षणेऽपि अवघातजनकतासम्बन्धावगतिरिति  
भावः । न च प्रोक्षणजन्यव्यापारः अदृष्टमेव तच्च पुरुषनिष्ठं न तु ब्रीहिनिष्ठमिति वाच्यम् ।  
तथा सति ब्रीहौनित्यत्र संस्कारावच्छिन्नवारिप्रक्षेपरूपधालर्थतावच्छेदकसंस्कारात्मकफल-  
वत्त्वाभावेन द्वितीयानुपपत्तिः । तत्र प्रोक्षणस्योपलक्षणत्वे त्वाह, किञ्चेति, आपरमाख्यन्त-  
भङ्ग इति परमाणौ अन्तोनान्यो येषां तानि द्वाणुकानि अभिव्याध्य भङ्गे नाशे इत्यर्थः,  
अभिविधानाङ्गद्वयप्रयोगात्, तद्भङ्गे प्रमाणं “नानुपसृज्य प्रादुर्भावात्” इति सङ्घर्षिसूत्रम्,  
उपसर्दभं बीजज्ञाशः, तदभावे अदुरप्रादुर्भावाभावात् इति सूत्रार्थः, पूर्ववर्त्तिनजूपदस्य  
प्रादुर्भावेऽन्वयः । ब्रीह्यादिनियमानुपपत्तिरिति, तथाच प्रलयोत्तरं पुनः सृष्टौ परमाणु-  
भेदकाभावात् कौटुशः परमाणुभिः ब्रीह्याद्युत्पत्तिः कौटुशेषां यथाद्युत्पत्तिरिति नियमा-



संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः ।

स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥ ११ ॥

प्रोक्षणादिभिः संस्कारोऽदृष्टं पुंसः पुंसि दृष्टः स्वीकृतः, प्रतिब्रीहिनानां शक्तिकल्पनापेक्षया एकस्यैवादृष्टस्यात्मनिष्ठस्य प्रोक्षणादिजन्यावघातजनकस्य लाघवेन कल्पनात्, दृष्टद्वाराभावे सति विहितस्य कालान्तरभाविफलानुकूलस्य धर्मजनकत्वकल्पनाच्च । संस्कृतो ब्रीहिरिति प्रत्ययवलाच्च तस्य स्वरूपसम्बन्धेनैव ब्रीहिनिष्ठत्वं कल्प्यते, एतेनाभिमन्वितपयःपल्लवादावपि तत्तत्फलानुकूलमदृष्टं पुरुषनिष्ठम् । ब्रीहिनिति च शक्तून् प्रोक्षति इत्यादाविव प्रोक्षणादिजन्यजलसंयोगादिरूपपरसमवेतक्रियाजन्यफलशालितया कर्मता । यो यद्वत्तफलार्थितया क्रियते स तन्निष्ठफलजनकव्यापारजनक इति च शत्रुनिष्ठबधाद्यर्थक्रियमाणश्चेनादौ स्वनिष्ठफलजनके व्यभि-

नपपत्तिः, अच्यन्ते च ब्रीह्यादिपरमाणुषु यवादिपरमाणुषु च पृथक् पृथक् शक्तिः स्वीकार्या सैव ब्रीह्यादिनिधामिकेति भावः । दोषान्तरमाह, एवमित्यादि, तथाच साधकर्षणेन श्रयातिशयसम्पादिका शक्तिर्भावेव स्वीकार्येति भावः । एवञ्चात्र शक्तिसिद्धौ तद्वदृष्टान्ते न भोग्येष्वेव यागजन्यशक्तिसिद्धिर्भविष्यतीति पूर्वपक्षतात्पर्यम् ।

प्रोक्षणादिजन्यातिशयसिद्धावपि तस्य ब्रीहिनिष्ठत्वं न सिद्धयतीत्याह, कारिकायां संस्कार इति, प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिरिति, प्रोक्षणाभ्युक्षणे ऊर्ध्वमुखाधोमुखदक्षिणपार्श्व-करणकवारिप्रक्षेपरूपे तस्याच स्मृतिः उत्तानेनैव हस्तेन प्रोक्षणं परिकीर्तितम् । न्यक्षताभ्युक्षणं प्रोक्तं तिरयावोक्षणं स्मृतमिति ॥ व्याख्यायाम् एकस्यैवादृष्टेति, एकस्यैवेत्यनेन बाधकमानं सूचितं, तथाच कालान्तरभाविफलानुकूलो व्यापारो लाघवेन एक एव सिद्धः तस्य ब्रीहिसमवेतत्वे एकब्रीहिनाशात् तन्नाशे अवघातानुपपत्तिः । न च यावदाश्रयनाशात् तन्नाशः, लाघवादाश्रयनाशस्यैव तन्मत्वात् । अतः अनायत्या व्यधिकरणोऽप्येक एवादृष्टविशेषः तथा कल्प्यते इति सिद्धम् । दृष्टद्वाराभावे सतीति दृष्टाद्वारकले सतीत्यर्थः, भोजनादौ व्यभिचारवारणाय एतद्विशेषणस्य सार्थक्यम् । तथाचायं प्रयोगः प्रोक्षणम् अदृष्टजनकं दृष्टाद्वारकले सति कालान्तरभाविफलजनकतया विहितत्वात् यागवदिति ।



चारि । यवाद्युत्पत्तिनियमार्थमाह स्वगुणाः परमाणूनां पाकजादयो विशेषा विशेषकाः, तेन पाकजरूप-रसादिविशिष्टाः परमाणवस्तत्कार्थ्यमारभन्ते । चिकित्सास्थले तु धातुसाम्यमेव भेषजपानस्य रोगादिनाशे फले जनयितव्ये द्वारमिति भावः ॥ ११ ॥

ननु व्यधिकरणादृष्टस्यावघातजनकत्वेऽतिप्रसङ्गः इत्यत आह, तस्येति तादृशादृष्टस्येत्यर्थः, स्वरूपसम्बन्धेनेति स्वजनकप्रोक्षणजनकाभिप्रायविषयत्वस्वरूपसम्बन्धेनेत्यर्थः । केचित्तु स्वरूपसम्बन्धेन विषय-विषयिभावलक्षणस्वरूपसम्बन्धेनेत्यर्थः, त्रीद्विषु अदृष्टस्य समवायासत्त्वेऽपि विषय-विषयिभावलक्षणस्वरूपसम्बन्धः तत्र वर्तत एवेत्याहुः । ननु तथापि अभिमन्त्रितपयःपक्त्ववादी अवश्यं शक्तिः स्वीकार्या इत्यत आह, एतेनेति दृष्टद्वाराभावे सतीत्यादियुक्तिवलेनेत्यर्थः । अभिमन्त्रितेति, अभिमन्त्रितत्वम् अभिमन्त्रणकर्मत्वम्, अभिमन्त्रणञ्च संस्कारविशेषानुकूलमन्त्रोच्चारणम्, तज्जन्यसंस्काररूपफलविशेषाश्रयत्वं कर्मत्वम् । न च तादृशसंस्कारः कर्तव्येव न तदाश्रयत्वं पयस इति वाच्यम् । तस्योच्चारणकर्तृसमवेतत्वेऽपि पयसि स्वरूपसम्बन्धेन वर्तमानत्वात् । स्वरूपसम्बन्धेन तादृशाश्रयत्वबोध एवाभिमन्त्रधातुसमभिध्यातकर्मप्रत्ययानामाकाङ्क्षाकल्पनात् कर्तुः कर्मत्वं, कर्तृभिन्नक्रियाजन्यफलाश्रयत्वस्यैव कर्मत्वरूपत्वाच्च । प्रोचधातुसमभिध्यातकर्मप्रत्ययस्य स्वरूपसम्बन्धेन क्रियाजन्यफलाश्रयत्वबोधकत्वस्युत्पत्त्यकल्पनेन लोकसिद्धक्रियाजन्यफलसमवेतत्वरूपकर्मत्वबोधकत्वस्युत्पत्त्यैवोपपादयति, त्रीहीनिति चेति, परसमवेतेति कर्तृभिन्नसमवेतत्वर्थः, एतच्च कर्तुः कर्मत्वंवारणाय । यथा शक्नुन् प्रोचति इति लौकिकवाक्ये प्रोक्षणजन्यसंस्कारस्वाभावेऽपि शक्नुनां कर्मत्वं तथा त्रीहीनित्येवापि कर्मत्वं न कश्चिद्दोषः पदमादधाति । यो यद्वगतेत्यादिमियमं दूषयति, यो यद्वगतफलार्थितयेत्यादि, स्वनिष्ठफलेति अत्र फलपदं शब्दवधजनकादृष्टरूपव्यापारपरम् । न च शब्दादावेव दुरदृष्टं जायत इति वाच्यम् । “शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि” इत्युत्सर्गवाक्यस्य वाचकं विनात्यागायोगात् बहुशब्दस्थले नानाशब्दनिष्ठादृष्टकल्पनापेक्षया अनुष्ठादनिष्ठमेकमेवादृष्टं जायते इति कल्पनाया लाघवाच्च । न च श्येनयागानन्तरमेव देवाद्वगङ्गासरणादिनां श्येनयागकर्तृसुक्तात्वे शब्दवधो न स्यात् सुक्तिकारणीभूततत्त्वज्ञानादेः सकलादृष्टनाशकत्वादिति वाच्यम् । श्येनयागजन्यशब्दधानुकूलभागकर्तृनिष्ठपुण्यस्य तत्कर्तृभोगाजन्यतया तस्य तत्त्वज्ञानादिना नाशभावेऽपि क्षतिविरहात् तदतिरिक्तादृष्टानामेव सुक्ती



ननु यत्र पाकजोन विशेषस्तत्र वायुदौ कथमुद्भूतस्पर्शादि,  
करकादौ च प्रतिरुद्धं द्रवत्वमिति, कथञ्च प्रतिमादौ प्रतिष्ठादेरुप-  
योगः, तथाच प्रतिष्ठाजन्त्या शक्तिश्चाण्डालादिसर्शनाश्या पूज्यता-  
प्रयोजिका स्वीकार्या इत्यत्राह,—

निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः ।

देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥१२॥

निमित्तभेदः अदृष्टभेदः, देवताः प्रतिष्ठाविधिना सन्निधानेनाह-  
ङ्कार-ममकारादिना आराधनीयतामासादयन्ति, प्रतिष्ठाविधिना

नाशाभ्युपगमात् । धातुसात्म्यमिति धातवः विकृता वात-पित्त-क्फाः तेषां सात्यं विकार-  
निवृत्तिः । एवं माघकर्षणादिनापि न शक्तिर्जन्यते किन्तु कर्षणेन पूर्वभूमिनाशे मदी-  
करणानन्तरं विन्यचना भूमिर्जन्यते, पक्षधरनियैरप्येतदेवोक्तम् ॥ ११ ॥

कस्मिंश्चिद्वायुदौ उद्भूतस्पर्शादि कस्मिंश्चिच्च न, कस्मिंश्चित् जले करकादौ द्रवत्वप्रति-  
रोधः न सर्वत्र इत्यादौ शक्तिरेव नियामिका अवश्यं स्वीकार्या, एवं प्रतिमादौ प्रतिष्ठा-  
विधिना पूज्यताप्रयोजिका शक्तिरेव वाच्या इति त्रीमांसकः शङ्कते, नन्वित्यादिना । कारि-  
कायां निमित्तभेदसंसर्गादिति अदृष्टविशेषवदात्मसंयोगादित्यर्थः । उद्भवानुद्भवादय इति,  
उद्भवः उद्भूतस्पर्शादिः, अनुद्भवः अनुद्भूतस्पर्शादिः, आदिपदान् प्रतिरुद्धद्रवत्वपरिग्रहः ।  
तथाच उद्भूतस्पर्शादिकं यत्पुरुषोद्यभोगजनकं तस्मैवादृष्टजन्त्यमिति भावः । आराधनी-  
यतामिति प्रतिमादय इति शेषः । आराधनीयत्वञ्च देवप्रीतिहेतुक्रियाधारत्वं, देवत्वञ्च  
वेदबोधितमन्त्रकरणकल्याणोद्देश्यत्वम् । केचित्तु देवानां जन्यग्रीव्यभावात् गौरवज्ञान-  
जन्यप्रीतिस्वरूपयोग्यक्रिया आराधनपदार्थः कर्मत्वञ्च गौरवज्ञानविषयत्वम् इत्याहुः ।  
तत्र । अशरीरस्य परमेश्वरस्य जन्यज्ञान-जन्यग्रीव्यायभावेऽपि प्रतिमादौ पूजनीयस्य  
शरीरिणो विष्णुर्देवतात्सत्त्वे बाधकाभावात् । अतएव शब्दशक्तिप्रकाशिकायां जग-  
दीशतर्कालङ्कारेण विष्णुं पूजयेदित्यादौ ग्रीव्यायत्वत्वरूपं कर्मत्वमुक्तम् । एतेन परमेश्व-  
रस्य जन्यज्ञानाभावात् आहार्यज्ञानरूपयोरहङ्कार-ममकारयोः कथं तत्र सम्भव इति  
पूर्वपक्षोऽपि निरस्तः । अशरीरस्य परमेश्वरस्य जन्यज्ञानासम्भवेऽपि शरीरिणो विष्णुर्दे-  
वाहार्यजन्यज्ञानसम्भवात् । अहङ्कार-ममकारादिनिति सन्निधानेनेत्यस्य विवरणं यथाय-



देवतानां प्रतिमादौ अहङ्कार-ममकारौ, चाण्डालादिस्यर्शे च तादृ-  
 शाभिमानाभावः । देवताचैतन्यविवादेऽपि यथार्थपूजितत्वधीः  
 प्रतिष्ठितत्वधीश्च चाण्डालादिस्यर्शान्भावविशिष्टा पूज्यतानिया-  
 मिका, तत्र चोपयोगिनी प्रतिष्ठा । वस्तुतस्तु प्रतिष्ठाका-  
 लोनयावदस्पृश्यस्पर्शनादिसंसर्गाभावः प्रतिष्ठाध्वंसकालीनः पूज्य-  
 ताप्रयोजकः “प्रतिष्ठितं प्रपूजयेदिति त्नेन प्रतिष्ठाध्वंसस्यैव प्राप्ते-  
 रिति दिक् ॥ १२ ॥

पूजितत्वधीरित्यादिकं प्रत्यभिज्ञानत इत्यस्य विवरणम्, अहङ्कारः अहमेपा प्रतिमैत्येव-  
 रूपः, ममकारः प्रतिमावयवादौ स्वीयत्वाभिमानरूपः । न च देवतानां विशेषदर्शित्वात्  
 समरूपयोरहङ्कार-ममकारयोः कथं सम्भव इति वाच्यम् । विशेषदर्शनसत्त्वेऽपि आहार्य-  
 रूपयोक्तयोः सम्भवात् । न च कन्यतादृशाहार्यज्ञानस्याशुविनाशितया तादृशज्ञान-  
 नाशोत्तरं कथं प्रतिमादौ पूज्यत्वमिति वाच्यम् । तादृशज्ञानपदेन तादृशज्ञानजन्य-  
 संस्कारस्य विवक्षितत्वात् । आद्यपूजायां पूजितत्वप्रत्यभिज्ञानासम्भवादुक्तं प्रतिष्ठितत्व-  
 चीयेति । यावदस्पृश्यस्पर्शनादिसंसर्गाभाव इति अत्र कूटलाघवार्थं संसर्गपदम् अन्यथा  
 भेदादिघटितकूटप्रवेगे महागौरवापत्तेः । नन्वेकप्रतिष्ठाकालीनयावदस्पृश्यस्पर्शसंसर्गा-  
 भावः प्रतिष्ठान्तरध्वंसकालीनः कथं न पूज्यताप्रयोजकः, न च स्वप्रतियोगिकालीनत्व-  
 स्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन प्रतिष्ठाध्वंसविशिष्टास्पृश्यस्पर्शसंसर्गाभावकूटस्य पूज्यता-  
 प्रयोजकत्वविवक्षणादौ दोष इति वाच्यम् । यत्र प्रतिष्ठाद्वितीयचक्षणे अस्पृश्यस्पर्शः तृतीय-  
 चक्षणे प्रतिष्ठाध्वंसः तत्र द्वितीयचक्षणोत्पन्नास्पृश्यस्पर्शसंसर्गाभावस्य प्रतिष्ठाध्वंसकालीनत्वा-  
 भावात् कूटानन्तर्गततया तदितरकूटस्य द्वितीयचक्षणेऽपि सत्त्वात् तादृशचक्षणे पूज्यत्वापत्ते-  
 रिति चेत्, न, प्रतिष्ठाध्वंसविशिष्टकूटत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वस्य पूज्यताप्रयोजकत्वविव-  
 क्षणात् कूटत्वे प्रतिष्ठाध्वंसवैशिष्ट्यञ्च स्वाधिकरणकालनिष्ठाधिकरणतानिरूपकतावच्छेद-  
 कत्व-स्वप्रतियोगिप्रतिष्ठाकालीनास्पृश्यस्पर्शसंसर्गाभावत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपथ्यात्मिकत्वोभयसम्ब-  
 धेन, यादृशप्रतिष्ठाद्वितीयचक्षणे अस्पृश्यस्पर्शः तादृशप्रतिष्ठाकालीनास्पृश्यस्पर्शसंसर्गाभाव-  
 त्वावच्छिन्नानुयोगिताकपथ्यात्मिकं यत् कूटत्वं तत् न तादृशप्रतिष्ठाध्वंसाधिकरण-  
 कालनिष्ठाधिकरणतानिरूपकतावच्छेदकमिति नोक्तस्यैव पूज्यतापचिरिति विभाव-  
 नोयम् ॥ १२ ॥



ननु तुलापरीक्षादौ परीक्षाविधिना शक्तिस्तुलादौ जन्यते, तथा नमनोन्नमनादिकं फलं जन्यते, इत्यत्राह,—

जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम् ।

परीक्ष्यसमवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥ १३ ॥

जयस्तदितरः पराजयः, तन्निमित्तस्यादृष्टस्य परीक्षणीयपुरुष-समवेतस्य वृत्तिलाभाय फलानुकूलसहकारिलाभाय परीक्षाविधयो मताः स्वीकृताः । योऽहमनेन परीक्षाविधिना तुलामारुढः सोऽहं पापवान् निष्पापो वेति ज्ञानं सहकारि । यद्वा वृत्तिलाभाय जननाय, तथाच प्रतिज्ञानुरूपां शुद्धिमपेक्ष्य धर्मोऽशुद्धिमपेक्ष्याधर्मो जन्यते । एतेन ब्रह्मबधाकरणादिना पुण्यस्याजननात् कथं तस्य सहकारि तादृशज्ञानं स्यादित्यपि परास्तम् ॥ १३ ॥

साङ्ख्येयसु पुरुषश्चेतन्याश्रयः अकारणम्, अतएव कूटस्थो नित्यः । प्रकृतिश्चाचेतना परिणामिनी नित्या एका, प्रकृतेश्च प्रथमं परिणामो

तन्निमित्तस्यादृष्टेति 'तयोः' जय-पराजययोः, अदृष्टस्य शुभाशुभादृष्टस्य जयनिमित्तस्य धर्मस्य पराजयनिमित्तस्याधर्मस्येति यावत् । परीक्षणीयपुरुषेति पाप-तदभावयोरन्यतर-वत्त्वेन निर्णयपुरुषेत्यर्थः, फलानुकूलेति तादृशान्यतरैकनिर्णयानुकूलित्वार्थः । ज्ञानं सहकारि-रीति, वस्तुतः पापवतः निष्पापस्य वा तुलारोहणकाले सोऽहं पापवान् निष्पापो वा इति ज्ञानम् आहार्यसंशयात्मकं जायते, तादृशज्ञानस्य पूर्वगतकर्मेजनितादृष्टसह-कारित्वं, तत एव नमनोन्नमने जय-पराजयो च जायते इति भावः । शुद्धिः निष्पा-पत्वम्, अशुद्धिः पापम् । तथाच पापान्निमित्तो योऽहमनेन परीक्षाविधिना तुलामारुढः सोऽहं निष्पापः इति प्रतिज्ञा परीक्षाकाले अवश्यकर्तव्या, तच्च यदि सत्यप्रतिज्ञा भवति तर्हि तत्सहकृतपरीक्षाविधिना धर्मो जायते, अन्यथा चेत् फलमप्यन्यथा भवति, तादृश-फलैर्नैव चरमं नमनोन्नमनादिकं जयः पराजयश्च भवति इति यद्वेत्यादिकल्पस्य तात्पर्यम् ॥ १३ ॥

साङ्ख्यमतमुल्याय निरस्यति साङ्ख्यशक्ति, अकारणम् अपरिणामी, तन्मते परि-



बुद्धिर्महत्तत्त्व', तत्राष्टौ धर्माः ज्ञानाज्ञानैश्वर्य्यनैश्वर्य्यवैराग्या-  
वैराग्य-धर्माधर्मरूपाः, बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्माशे-  
त्यष्टौ वा, भावनायास्त्वेरनङ्गीकारात् अनुभवस्यैव स्मृतिकाले सूक्ष्म-  
तयावस्थानात् । अचेतनायाः प्रकृतिकार्याया बुद्धेश्चैतन्याभिमाना-  
न्यथानुपपत्त्या स्वाभाविकचैतन्यस्वरूपः पुरुषः सिद्धः धर्मं धर्मिणोर-  
भेदात् । तत्र प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद्रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-

णामिन एव कारणत्वादिति । अतएव अकारणत्वादेव, कूटस्थः जन्यधर्मानाश्रयः  
परिणामिनीति कार्यरूपेणोद्भवः परिणामः तद्विशिष्टेत्यर्थः । एकैति "अज्ञानिकां लोहित-  
शुक्लकृष्णां वल्लीः प्रजाः सृजमानामित्यादिश्रुतेः, रजोगुणांशेन लोहितां सत्त्वगुणांशेन  
शुक्लां तनोगुणांशेन कृष्णामित्यर्थः । महत्तत्त्वमिति एतदेवान्तःकरणमुच्यते, बुद्ध्यात्मक-  
महत्तत्त्व' समध्यात्मकं हिरण्यगर्भसूक्ष्मशरीरं, तद्व्याप्त्यो नानाविधाः जीवानां सूक्ष्मशरी-  
राणि ज्ञानाज्ञानेत्यादि ज्ञानं प्रकृति-पुरुषविवेकेन देहात्मनोभेदज्ञानम्, अज्ञानं  
तद्विरोधि देहात्मनोभेदज्ञानम्, ऐश्वर्य्यम् अणिमाद्यष्टविधं, तच्च योगजन्यादष्टविशेषः  
अनैश्वर्य्यम् ऐश्वर्य्यविरोधिधर्मविशेषः' न त्वैश्वर्याभावः घटादिसाधारणत्वापत्तेः, वैराग्यं  
रागनिवृत्तिहेतुर्विषयः, अवैराग्यं विषयप्रवृत्तिहेतुरागविशेषः, धर्मः अभ्युदयहेतुशुभादृष्टम्,  
अधर्मः दुरदृष्टम् । ननु ज्ञानेच्छादेरात्मधर्मत्वात् तद्विशेषज्ञानरागादेः कथं बुद्धिधर्मत्व-  
मित्यत आह, बुद्धीति, वाकारश्च तथाच बुद्धिप्रवृत्तिसामान्याश्रयत्वमपि बुद्धेरिति न  
विशेषवत्त्वानुपपत्तिरिति भावः । धर्माधर्माशेति शुभाशुभादृष्टसामान्यवत्त्वमित्यर्थः,  
सामान्य-विशेषभेदान्न पौनरेक्यम् । नन्वेतादृशपुरुषसत्त्वे किं कानमित्यत आह,  
चैतन्याभिमानेति चैतनोऽहं करोमित्यादिरूपेत्यर्थः, तथाच अप्रसिद्धस्याभिमानासम्भवाद-  
शङ्कं चैतन्यं स्वीकरणीयमिति भावः । चैतन्यस्वरूप इति, ननु पूर्वे चैतन्याश्रय इत्युक्तम्  
इदानीं चैतन्यस्वरूप इत्युक्तिः कथं सङ्गच्छते इत्यत आह, धर्मं धर्मिणोरिति । तन्मात्रैश्च  
पञ्च महाभूतानि इति, तथाच गन्धात् चितिरुत्पद्यते, रसात् जलं, रूपात् तेजः, स्पर्शात्  
वायुः, शब्दादाकाशमिति क्रमः । सूक्ष्मप्रकृतिरविकृतिरिति, सूक्ष्मं अनादिः, अविकृतिः  
अजन्मा । पोष्येति, तथाच इन्द्रियाग्रेकादश, महाभूतानि पञ्च, महदादयः सप्त, प्रकृति-  
रेति षतुविंशतितत्त्वानि, पुरुषमादाय पञ्चविंशतितत्त्वानि, पुरुषास्तु बहुविधाः न्यायमत-



शब्द-तन्मात्राणीति सप्त, चक्षुस्त्वक्प्राण-रसना-श्रोत्र-मनांसि वाक्-  
पाणि-पाद-पायूपस्थानि इन्द्रियाणि, तन्मात्रैः पञ्च महाभूतानि पृथि-  
व्यग्नेजोवायुकाशानि जायन्ते । तदुक्तम् “मूलप्रकृतिरविकृति-  
र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न  
विकृतिः पुरुषः” । पञ्च महाभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडश ।  
चैतन्यस्य नित्यस्य स्वाभाविकेष्टानिष्टविषयावच्छिन्नत्वस्वाभाव्येऽनि-  
र्गोचः स्यात्, प्रकृत्यधीनत्वेऽपि विषयावच्छेद्यत्वस्य प्रकृतेर्नित्य-  
तया तथैवानिर्गोचप्रसङ्गः, घटादेरनित्यस्यापि स्वाभाविकचैतन्या-  
वच्छिन्नत्वे दृष्टादृष्टविभागानुपपत्तिश्च, इन्द्रियमात्रापेक्षो यदि विषय-  
चैतन्यावच्छेदस्तथापि व्यासङ्गानुपपत्तिरतो मनः स्वीकार्यं यत्-  
सम्बन्धेन इन्द्रियस्य विषयीयचैतन्यावच्छेदनियामकत्वम् । स्वप्न-  
दशायां व्याघ्रत्वाभिमानिनो न नरोऽहमित्यभिमानः अतस्तन्नियमाय  
नियतविषयाभिमानव्यापारकोऽहङ्कारोऽपि स्वीकार्यः । जाग्रत्स्वप्न-  
सुषुप्तिषु श्वास-प्रश्वासदर्शनात् सव्यापारं यदनुवर्तते तदनुद्धितत्वं

सिद्धजीवात्मस्थोऽयं इति साङ्ख्यमतमिति भावः । ननु नित्यमेव चैतन्यं साक्षाद्विषय-  
सम्बन्धमस्तु किं महदादिस्वीकारेण इत्याशङ्क्यामाह, चैतन्यस्येति, स्वाभाविकेति  
स्वाभाविकम् अन्यानपेक्षणीयं यत् दृष्टानिष्टात्मकविषयैः सह अवच्छिन्नत्वं अवच्छेदः  
सम्बन्ध इति यावत् तत्स्वाभाव्ये तत्सम्बन्धत्वे इत्यर्थः । अनिर्गोचः स्यादिति तथाच  
चैतन्यस्य नित्यत्वेन सदैव चैतन्यात्मकपुरुषस्य विषयसम्बन्धत्वे सोऽहो न स्यात् विषय-  
सम्बन्धश्च सदैव सोऽहत्वात्, तयोरनित्यसम्बन्धोपगमे तत्सम्बन्धानित्यत्वे महदादिसम्बन्ध-  
स्यैव नियामकत्वमिति भावः । ननु प्रकृतेरेव विषयावच्छेद्यत्वनियामकत्वमस्त्वित्यत  
आह, प्रकृत्येति । ननु विषयस्यैव चैतन्यसम्बन्धित्वस्य भावः तथाच विषयनाशे तादृशसम्बन्ध-  
श्च सो मोक्षः स्यादित्यत आह घटादेरिति, दृष्टादृष्टविभागानुपपत्तिश्चेति इदमिदानीं  
दृष्टं न तदानीं इति व्यवहारानुपपत्तियेत्यर्थः । व्यासङ्गानुपपत्तिरिति इन्द्रियाणां स्वस्व-  
विषयसम्बन्धे युगपत् स्व स्वकार्यानुत्पादो व्यासङ्गः तदनुपपत्तिः चाक्षुष-स्पर्शानादीनां



प्रागुक्तभावाष्टकयोगि स्वीकार्यम् । तस्य ज्ञानरूपपरिणामेन सम्बन्धो विषयः पुरुषस्य स्वरूपतिरोधायकः, एवञ्च बुद्धितत्त्वनाशादेव विषयावच्छेदाभावात् पुंसो मोक्षः । भेदाग्रहाच्च चेतनोऽहं करोमीत्यभिमानः । तदुक्तं “प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते” इति । सा च बुद्धिरंशत्रयवती, पुरुषोपरागः विषयोपरागः व्यापारावेशश्चेति, ममेदं कर्तव्यमित्यत्र ममेति चेतनोपरागः बुद्धि-चेतनयोर्भेदाग्रहात् अतात्त्विकः, इदमिति विषयोपरागः, तदुभयायत्तो व्यापारावेशः । बुद्धावारोपित-चेतनस्य विषयेण सम्बन्धः ज्ञानं, ज्ञानेन सम्बन्धश्चेतनोऽहङ्कारोमीत्युपलब्धिरित्याहुः । अत्राह,—

योगपदप्रसङ्ग इति फलितार्थः, तथाच चैतन्यावच्छिन्नत्वं उपाधिभेदेन स्वीकार्यमिति भावः । अहङ्कारस्वीकारे युक्तिमाह, स्वप्नदशायामिति, स्वप्नदशायां नियतविषयभिमाननिर्वाहाय मनो भिन्नाहङ्कारः अवश्यं स्वीकार्यः अन्यथा अनियतविषयभिमानापत्तेः, तथाचाहङ्कारस्वीकारे यद्विषयकाहङ्काररूपविषयक एवाभिमान इति नियतविषयभिमाननिर्वाहः । नियतविषयभिमानेति नियतः नियमितः विषयः आत्म-देहादिः यस्य सोऽभिमानो व्यापारो यस्य तादृशाहङ्कार इत्यर्थः । बुद्धितत्त्वं साधयति जाग्रदित्यादि, सव्यापारं स्वासाद्यनुकूलकृतिमतु, तथाच जाग्रदाद्यवस्थावैलक्षण्येऽपि अविलक्षणश्लाघादिकार्यदर्शनात् एकजातीयकार्यं एकजातीयकारणस्वावश्यमभ्युपेयत्वेन बुद्धितत्त्वमवश्यं स्वीकार्यं अन्यथा सुषुप्तिदशायाम् अहङ्कारपर्यन्तव्यापारविरमेन तैस्तत्कार्यानुपपत्तिरिति भावः । तस्य ज्ञानरूपपरिणामेनेत्यादि, अयं भावः बुद्धितत्त्वसत्त्वे इन्द्रियप्रणालिकया तत्परिणामेनायं घट इत्यादिज्ञानेन सम्बन्धो घटादिर्द्विषयः स्वाकार-ज्ञानपरिणामिबुद्धागृहीतासंभर्गकत्वसम्बन्धेन पुरुषनिष्ठः पुरुषस्वरूपतिरोधानेन पुरुषस्य संसारसम्पादकः बुद्धितत्त्वनाशे तु तत्परिणामस्वायं घट इत्यादिज्ञानरूपस्याभावात् विषयावच्छेदकाभावेन कैवल्यावस्थानरूपो मोक्षः दुःखसम्बन्ध-तद्वत्संस्पृष्ट संसार-मोक्षौ तु न पुंसः किन्तु बुद्धेरिति । पुरुषस्य कार्यत्वाभावे भागमरूपप्रमाणं दर्शयति, प्रकृतेरिति प्रकृतिर्माया तस्या गुणैः सत्तूरजसमोलक्ष्यैः क्रियमाणानि कर्माणि भवन्ति, अहङ्कारः



कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः ।

अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथ वा ध्रुवः ॥ १४ ॥

कृतिसमानाधिकरणास्तावद्धर्माधर्म-द्वेपेक्षाः भोगस्य कृतिसा-  
मानाधिकरण्यात् । एवञ्चेतिता चेतनः स एव कृतिमानेव नोऽस्माकं  
मतः चेतनोऽहं करोमीतिप्रत्ययबलात् । दूषणान्तरमाहान्यथेति ।  
यदि बुद्धिर्नित्या तदा बुद्धुपहित्वात्मनः सर्वदावस्थानात् अनि-  
र्माच्चः स्यात्, यद्यनित्या तदोत्पन्ना वाच्या, अनित्यभावस्यानु-  
त्पत्त्यभावात्, तथाच तदुत्पत्तेः प्राक् तदाश्रितधर्मादेरप्यभावेन  
बुद्धितत्त्वस्यानुत्पत्तौ नियतशरीरेन्द्रियादिकार्यस्यानुत्पत्तौ असंसारः  
स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

चार्वाकस्तु भवतु चेतनधर्मोऽदृष्टं चेतनश्च न नित्यविभुः किन्तु  
कायाकारपरिणतभूतविशेषः गौरोऽहं जानामीति प्रतीत्या रूप-  
वत्त्वसिद्धेरित्यत्राह, —

अहमितिप्रत्ययः तेन विमूढः आत्मा अन्तःकरणं यस्य तथाविधः पुरुषः, कर्ता-  
हमिति मन्यते इत्यर्थः । बुद्धित उपलब्धभेदप्रदर्शनायं बुद्धेरंगवत् दर्शयति, सा चैति,  
उपरागः सम्बन्धः, ममेदमित्यादि, चेतनोपरागः पुरुषसम्बन्धः, स च दर्पणगतमुखप्रति-  
विम्बवत् बुद्धिगतचैतन्यप्रतिविम्बरूपत्वादतात्त्विकः, विषयोपरागः विषयाकारेण बुद्धि-  
तत्त्वस्य परिणामः, स च निःश्वासाभिहतदर्पणनखिनिमेव तात्त्विकः । तदुभयाग्रतः  
पूर्वोक्तपुरुषोपराग-विषयोपरागाधीनः, व्यापारावेशः कर्त्तव्यस्य घटादिरवभासः तेन  
कर्त्तव्यमित्यध्यवसायो व्यापारावेश इत्यर्थः । ज्ञानेन सम्बन्ध इति ज्ञानेन अयं घट इति  
ज्ञानेन, सम्बन्धः चैतन्यस्वातात्त्विकः सम्बन्धः चेतनोऽहं करोमि इत्याद्युपलब्धिपदवाच्यः ।  
नियन्तारः प्रयोजकाः, बुद्धितत्त्वस्यानुत्पत्ताविति त्रय्यभावं प्रति अदृष्टस्य हेतुत्वादिति  
भावः ॥ १४ ॥

देहात्मवादिनयार्वाकस्य मतमुत्थाप्य निरस्यति, चार्वाकस्त्वित्यादि, ननु घटादिरपि  
चैतन्यवत्त्वं स्यात् भूतत्वादित्यत्र आह, कायाकारेति तथाच कायाकारपरिणतभूत-



नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।

वासनासंक्रमोनास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥ १५ ॥

शरीरस्य चैतन्ये बाल्यदशायामनुभूतस्य यौवने स्मरणं न स्यात् चैतन्यदृष्टस्य मैत्रेणास्मरणमिव । न च बाल्य-यौवनयोरेकं शरीरम्, अपक्रमात् पूर्वशरीरविनाशात् परिमाणभेदेन द्रव्यभेदात् पूर्वपरिमाणनाशस्याश्रयनाशहेतुकत्वात् । न च कारणेनानुभूतस्य कार्येण स्मरणं स्यादिति वाच्यं । वासनासंक्रमाभावात्, अन्यथा मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेन स्मरणापत्तेः । ननुपादानवासनाया उपादेये संक्रमः स्यादित्यत्राह, न च गत्यन्तरं स्थिर इति, स्थिरे स्थिरपक्षे पुञ्जात् पुञ्जान्तरोत्पत्तेरभावात् करादि शरीरस्योपादानं वाच्यं, तथाच विच्छिन्ने करादौ तदनुभूतस्य स्मरणं न स्यात्, खण्डशरीरे विच्छिन्न-करादेरनुपादानत्वात् । न च परमाणूनां चैतन्यं तेषाञ्च स्थिरत्वात् स्मरणं स्यादिति वाच्यम् । तथा सति स्मरणस्यातीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्

विशेषस्यैव चैतन्यवत्त्वं न तु भूतसामान्यस्येति भावः । रूपवत्त्वसिद्धेरिति चेतने इत्यादिः । पूर्वशरीरविनाशादिति तथाच पूर्वशरीरनाशं विना शरीरान्तरोत्पत्तिर्न सम्भवति द्रव्योत्पत्तौ द्रव्यस्य प्रतिवन्धकत्वात् इति भावः । ननु पूर्वशरीरमेवोपवधेन वर्धितं न तु शरीरान्तरं तदेवेदं शरीरमिति प्रत्यभिज्ञानादित्यत आह, परिमाणभेदेन द्रव्यभेदादिति, तथाच साजाल्यमवलम्ब्यैव प्रत्यभिज्ञानमिति भावः । ननु परिमाणभेद एव कथं द्रव्यभेदकः एकस्मिन्नेव द्रव्ये एकपरिमाणनाशानन्तरमपरिमाणोत्पत्तिसम्भवादित्यत आह, पूर्वपरिमाणनाशस्येति । ननु यौवनशरीरजनके अवयवे एव संस्कारः स्वीकार्यः तथाच कारणनिष्ठसंस्कारस्यैव कार्यनिष्ठस्य त्तिजनकत्वमित्याह, न चेति । वासनासंक्रमाभावात् वासना संस्कारः, संक्रमः सामानाधिकरण्यं, तथाच सामानाधिकरण्योरेव संस्कार-स्मरणयोर्हेतु-हेतुमत्त्वादेव कारणनिष्ठसंस्कारस्य कार्यनिष्ठस्य त्तिजनकत्वं न सम्भवतीति भावः । अन्यथा विभिन्नाधिकरणयोः संस्कार-स्मरणयोः हेतु-हेतुमत्त्वादेव इत्यर्थः, उपादेये संक्रमः इति तथाच पुनस्य उपादानकारणं न माता तस्या निमित्तकारणत्वात् इति



तन्निष्ठरूपादिवत्. करपरमाण्वनुभूतस्य विच्छिन्नकरपरमाण्वसन्नि-  
धावस्मरणप्रसङ्गाच्च ॥ १५ ॥

नन्वसु क्षणभङ्गः तथाच पूर्वपूर्वपरमाणुपुञ्जेनोपादेयोत्तरोत्तर-  
परमाणुपुञ्ज इति न स्मरणानुपपत्तिरित्यत्राह ।

न वैजात्यं विना तत् स्यात् न तस्मिन्ननुमा भवेत् ।

विना तेन न तस्मिद्विर्नीध्यज्ञं निश्चयं विना ॥ १६ ॥

वैजात्यं कुर्वद्रूपत्वं विना न तत् क्षणिकत्वं स्यात् सिद्धप्रतीत्यर्थः ।  
स्थिर एव वीजादौ सहकारिलाभालाभाभ्यामेव कार्यजन्माजन्म-  
नोरुपपत्तेः वीजत्वादिनैवाङ्कुरादिजनकतोपपत्तेः, वीजव्यक्तिभेदा-  
भावे कुतः क्षणिकत्वं स्यात् । तस्मिन् जातिविशेषे च ऐन्द्रियक-  
वृत्तावतीन्द्रियत्वेनाभ्युपगम्यमाने सत्यनुमानं न स्यात्, धूमकुर्वद्रूप-

भावः । स्थिरपञ्च इति पुञ्जीत्यन्तेरभावादिति पुञ्जीत्यन्तेरस्त्रीकारादित्यर्थः, तथाच  
क्षणिकत्वपक्षे वाल्य-शौवनशरीरयोः परमाणुपुञ्जात्मकतया उपादानोपादेयभावेन वासना-  
संक्रमसम्भवेऽपि स्थिरपक्षे तदभावान्न संक्रमः सम्भवतीति भावः ॥ १५ ॥

क्षणभङ्गवादिद्वीजमतमुत्पाद्य निरस्यति, नन्वस्त्वित्यादिना, क्षणभङ्गः भावमात्रस्य  
स्वीत्यत्यव्यवहितोत्तरकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं, यत् सत् तत्क्षणिकम् इति वीजानां  
सिद्धान्तात् । एतन्मते परमाणुपुञ्जरितिरिक्तावयवी न सम्भवति अवयवव्युत्पत्तिकाले  
पूर्वपरमाणुपुञ्जानां विनाशात् अतः पुञ्जात् पुञ्जान्तरोत्पत्तिरित्यर्थमेव तेषां सिद्धान्तः,  
तथाच पूर्वोत्तरशरीरयोरुपादानोपादेयभावेन वासनसंक्रमसम्भवात् न प्रागुक्तस्मरणानुप-  
पत्तिः । क्षणिकत्वे विप्रतिपत्तिः सत् स्वीत्यत्यव्यवहितोत्तरकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगि न  
वा इत्येवंरूपा, अत्र भावकोटिः वीजानां निषेधकोटिः भैयाधिकानाम् । वैजात्यं  
कुर्वद्रूपत्वं विनैति, कुर्वद्रूपत्वं जातिविशेषः, अत्रायं भावः वीजत्वेन यदि वीजानाम् अङ्कुर-  
कारणत्वं तर्हि कुयलस्यवीजादपि अङ्कुरोत्पत्त्यापत्तिः अतः वीजानाम् अङ्कुरकारण-  
तावच्छेदकं कुर्वद्रूपत्वम् अवश्यमभ्युपेयं, तत्स्त्रीकारेऽपि यदि वीजानां स्थिरत्वं तदा  
कुयलस्यवीजेऽपि कुर्वद्रूपत्वसत्त्वान् तद्दोषतादवस्थं स्यात् अतः क्षणिकत्वसिद्धिः, तथा-



वह्नित्वादिनैव वज्रपादेर्हेतुतया विलक्षणस्वकार्यजनकत्वेन सम्भावितस्य विजातीयधूमस्यैव वज्रिजन्यत्वसम्भावनायां धूमसामान्ये हेतुत्वानिर्णयात्, तथाच कार्य-कारणभावरूपविपक्षबाधकतर्काधीनव्याप्तिनिर्णयस्यासम्भवेनानुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्ग इति । तेनानुमानेन विना च क्षणिकत्वस्यासिद्धिः तस्यानुमानैकगम्यत्वात् । न च तत्र प्रत्यक्षमेव मानमिति वाच्यम् । निर्विकल्पकस्यैव तन्मते विषयजन्यतया प्रामाण्यं, तस्य च सविकल्पकोन्नेयतया क्षणिक इति सविकल्पकस्यासिद्धावसिद्धेः । किञ्चाङ्कुरकुर्वद्रूपत्वं न जातिः शालित्वादिना सङ्करात् शालित्वमपहाय यवे तस्य सत्त्वात् शालित्वस्य कूशूलस्थे शालौ तदपहाय सत्त्वात् कुर्वद्रूपे शालौ तूभयोः समा-

चाग्रं प्रयोगः बीजादिकं क्षणिकं कुर्वद्रूपत्वादिति । एतन्मतं निरस्यति, स्थिर एवेत्यादिना, कुतः क्षणिकत्वं स्यादिति तथाच कुर्वद्रूपत्वहेतुना क्षणिकत्वानुमानं, कुर्वद्रूपत्वसिद्धौ न क्षणिकत्वसिद्धिरिति भावः । ऐन्द्रियकवृत्ताविति इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षगोचरवृत्तावित्यर्थः, अतीन्द्रियत्वेनाभ्युपगम्यमान इति एतेन धूमसामान्ये वज्रिसामान्यस्याहेतुत्वेऽपि अञ्जनकुर्वद्रूपत्वावच्छिन्ने धूमकुर्वद्रूपत्वावच्छिन्नवज्रे हेतुत्वनिर्णयात् तादृशकार्य-कारणभावयद्गमूलकतर्काधीनव्याप्तिनिययसम्भवेन धूमसामान्यलिङ्गकवज्रिसामान्यानुमानस्यासिद्धावपि अञ्जनकुर्वद्रूपत्वविशिष्टधूमलिङ्गकधूमकुर्वद्रूपत्वविशिष्टवज्रानुमानं कथं न सम्भवति इति पूर्वपक्षोऽपि निरस्तः, कुर्वद्रूपत्वस्वातीन्द्रियत्वेन तेन रूपेण प्रत्यक्षतो व्याप्तिनिययासम्भवात् । न हि बीजादौ कुर्वद्रूपत्वं प्रत्यक्षगम्यं, बीजादौ कुर्वद्रूपत्वस्य अङ्कुरोत्पादानुमेयत्वात् । उपस्थितं कारणगतरूपं परिहृत्यानुपलभ्यमानरूपान्तरेण कारणत्वे कार्येष्वनुपस्थितरूपमपहायानुपलभ्यमानरूपान्तरेण, कार्यत्वशङ्कया कार्य-कारणभावयद्गमूलकतर्काधीनव्याप्तिनिययो न सम्भवतीति फलितार्थमाह, धूमकुर्वद्रूपेत्यादिना । विलक्षणस्वकार्यजनकत्वेन अञ्जनरूपस्वकार्यजनकत्वेनेत्यर्थः, सम्भावितस्य प्रतीतस्य, विजातीयधूमस्यैव अञ्जनकुर्वद्रूपधूमस्यैवेत्यर्थः, वज्रिजन्यत्वसम्भावनायां धूमकुर्वद्रूपवज्रिजन्यत्वनियये, हेतुत्वानिर्णयशदिति, एतेन आपत्त्यनुगुणबाधनिययासत्त्वं सूचितम् । विपक्षबाधकतर्काधीनेति विपक्षस्य विपक्षवृत्तित्वरूपव्यभिचारस्य, बाधकः आपाद्याभावनि-



वेशादिति । अतएव रजतत्वादित्यायं नानैव घटत्वं, विजातीय-  
संस्थानवदवयवकत्वरूपसुपाधिमादाय घट इत्यनुगतधीरिति ॥ १६ ॥

नन्वसु क्षणिकत्वे सन्देहः, न च प्रत्यभिज्ञावलेन स्थैर्यसिद्धौ कथं  
स इति वाच्यं, स एवायं घट इत्यत्र सन्देहसत्त्वात् अत्राह,—

स्थैर्य-दृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः ।

एकतानिर्णयोयेन क्षणे तेन स्थिरे मतः ॥ १७ ॥

स्थैर्यं न सन्देहस्तस्य प्रत्यभिज्ञया विषयीकरणात् । न च  
प्रत्यभिज्ञानरूपे, तस्यापि तदनुव्यवसायेन निर्णयात्, प्रामाण्य-

आपादकाभावनियायकः यः तर्कः धूमो यदि वज्रिवाभिचारी स्यात् वज्रिजन्यो न स्यात्  
इत्येव रूपः तदधीनेत्यर्थः । ननु प्रत्यक्षादेव क्षणिकत्वसिद्धिरित्यत्र आह, नाध्यक्षमिति  
अध्यक्षं निर्विकल्पकं, निययः सविकल्पकं, क्षणिकत्वनिययाभावात् तदनुमेयं क्षणिकत्व-  
निर्विकल्पकमित्यर्थः, ईदृशमेव तात्पर्यायं वर्णयति, न च तत्वेत्यादिना, निर्विकल्पकस्यै-  
वेत्यादि, बौद्धमते विषयजन्यं प्रत्यक्षं प्रमाणं तच्च निर्विकल्पकमेव, घटादेः क्षणिका-  
तया घटाद्युत्पत्तिवृत्तौ च यथा तस्य घटादिसविकल्पकस्य घटादिविषयजन्यत्वं न सम्भवति  
कार्यनियतपूर्ववर्तिन एव कारणत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति विषयस्य कार्यसहभावेन  
कारणत्वात् निर्विकल्पकं प्रत्यपि कथं विषयस्य कारणत्वनिर्वाहः निर्विकल्पकोत्पत्तिक्षणे  
विषयाभावात् इति वाच्यम् । एतन्मते सर्वत्र नियतपूर्ववर्तित्वस्यैव कारणत्वरूपत्वात् ।  
तथाच निर्विकल्पकस्य निययापरपठ्यायसविकल्पकोन्नेयतया निययरूपक्षणिकत्वसविकल्प-  
कासिद्ध्या क्षणिकत्वनिर्विकल्पकासिद्धिरिति भावः । अतएव मकरन्दश्लेषे रुचिदत्तेनोक्तं  
“बौद्धमते निर्विकल्पकमेव प्रमाणं न तु निययापरनामधेयं सविकल्पकं तच्च निर्विकल्पकं  
सविकल्पकोन्नेयमिति सिद्धान्तः”, प्रकृते च क्षणिकत्वनिययाभावात् तदुन्नेयं क्षणिकत्व-  
निर्विकल्पकमप्यसम्भवीति भाव इति ॥ १६ ॥

क्षणिकत्वसन्देहेऽपि स्थैर्यासिद्ध्या चार्वाकाभिलषितसिद्धिरिति शङ्कते नन्वेत्यादिना,  
अतः सन्देहः स्थैर्यं, प्रत्यभिज्ञायां, प्रामाण्यमात्रे, प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्ये वा, नाय इत्याह,  
सूत्रे स्थैर्येति स्थैर्यं क्षणिकत्वाभावे न सन्देह इत्यर्थः, अत्र हेतुमाह टीकायां तस्ये-



मात्रेऽपि न सन्देहः विरोधात् सन्देहज्ञानस्य प्रामाण्यसन्देहे  
सन्देहस्याप्यसिद्धेः, प्रामाण्यस्यासिद्धौ प्रामाण्यसंशयस्याप्यभावः  
कोऽप्यनिर्णयात् । ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्ये संशयः लूनपुनर्जात-  
केशादौ त एवामी केश इत्यादेर्भ्रमत्वदर्शनात् तत्राह एकतेति ।  
येन प्रमाणेन विरुद्धधर्मसंसर्गविरहेण क्षणिके घटे यदि तस्मि-  
न्नेव क्षणे न नानात्वं किन्त्वभिदः, तदा स्थिरे स्थिरपक्षेऽपि नाना-  
क्षणवर्तित्वेऽपि घटस्य न नानात्वं किन्त्वेकत्वम्, एकस्य ज्ञानस्य  
नानाविषयसम्बन्धवत् एकस्य नानाकालसम्बन्धेऽपि अविरोधात्,  
तत्तत्कारणक्रमाधीनत्वात् तत्तत्कालसम्बन्धस्य ॥ १७ ॥

तदेवं परलोकसाधनमागतम् । तत्रेदं शङ्कते कारणत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा, आद्ये नीलस्य सर्वान् प्रति नीलत्ववत् कारणस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात् कारणत्वमपि स्यात्, तथाच सर्वं

त्यादि तस्य स्थैर्यस्य प्रत्यभिज्ञया स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञया विषयीकरणादित्यर्थः । न द्वितीय इत्याह, मूले दृष्टोरिति दृष्टो प्रत्यभिज्ञायां न सन्देह इत्यर्थः, अत्र हेतुमाह, टीकायां तस्यापि तदनुव्यवसायेनेति तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानानौत्पत्यनुव्यवसायेन नियथादित्यर्थः । न तृतीयः इत्याह, न प्रामाण्य इति न प्रमात्वे संशय इत्यर्थः, अत्र हेतुमाह, विरोधत इति, विरोधमेव दर्शयति, टीकायां तथाहीत्यादिना । सन्देहज्ञान-  
स्येति सन्देहौत्पत्यनुव्यवसायस्येत्यर्थः । न चतुर्थं इत्याह, एकतेत्यादि, व्याख्यायां येन प्रमाणेनेति बाधकप्रमाणविरहितेन प्रत्यभिज्ञादिरूपेणेत्यर्थः, विरुद्धधर्मसंसर्गविरहेण तत्तर्कमाणां विरुद्धताविरहेण, न नानालम्बिति, अन्यथा चक्षिकत्वपक्षेऽपि देशवृत्तित्वं तत्त्ववृत्तित्वाद्विधमाणां विरोधः शङ्क्या नानालम्बं स्यादिति भावः । अमेदः एकात्मन्, अविरोधादिति तथाच यत्र प्रत्यभिज्ञाया बाधकनिश्चयस्त्वैव तस्या भ्रमत्वम्, एवं येषां धर्माणां विरोधः प्रमाणसिद्धः तेषामेव धर्मिमेदकत्वं न तु सर्वेषामिति भावः । नन्वेकज्ञानस्य युगपद्भानाविषयसम्बन्धवत् एकस्य युगपत् नानाकाव्यसम्बन्धः स्यादित्यत आह, तत्त्वत्कारणक्रमेति तथाच तत्त्वत्कालसम्बन्धे तत्त्वत्कालस्यापि हेतुत्वात् तत्त्वत्काव्यस्य क्रमिकत्वेन तत्त्वत्कालसम्बन्धस्यापि क्रमिकत्वं न योगपक्षमिति भावः ॥ १७ ॥



कारणं सर्वस्य स्यात् । द्वितीये उपाधेरपि स्वाभाविकत्वे तद्दोष-  
तादवस्थ्यात्, औपाधिकत्वेऽनवस्था । किञ्च कारणत्वस्य स्वाभावि-  
कत्वे उत्पत्तेरारभ्य कार्यं स्यात्, तत्राह,—

हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तुसत् ।

तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम् ॥ १८ ॥

हेतुशक्तिः कारणत्वं, अनादृत्य अनिश्चित्य, नीलाद्यपि न वस्तुसत्  
न प्रामाणिकं, तथाच यत् पारमार्थिकं तत् साधारणं यथा नीलादि,  
कारणत्वञ्च यदि न साधारणम् अतो न परमार्थेऽदित्यपि न स्यात्  
दृष्टान्तस्यानित्यस्य नीलस्य कारणत्वस्वीकारेण सर्वत्राभावात्  
नित्यस्य नीलादेः प्रमाणागोचरत्वात् । किञ्चेत्याद्युक्तं दूषयति,  
तद्युक्तमिति तद्युक्तं सहकारियुक्तं, तत् कारणं, तत्र कार्यं शक्तिमिति

तद्देशमित्यादि, परलोकसाधनमिति स्वर्गादिसाधनमदृष्टमित्यर्थः । स्वाभाविकं  
धर्मिणोनीलत्वादिवत् स्वस्मिन् नियतस्थितं न तु किञ्चिदपेक्षम्, औपाधिकं किञ्चिदपेक्षं,  
नीलस्य सर्वान् प्रतीत्यादि यथा यत् नीलं तत् सर्वान् प्रति नीलं तथा यत् कारणं तत्  
सर्वान् प्रति कारणं स्यादित्यर्थः, सर्वस्य स्यादिति तथाच कारणत्वसाधारणत्वं वक्तव्य-  
मिति न कारणत्वं पारमार्थिकं नीलादेरिव साधारणत्वं तत्त्वादिति भावः । कारण-  
त्वस्य स्वाभाविकत्वे दोषान्तरमाह, किञ्चेति, उत्पत्तेरारभ्येति स्थिरस्य एकस्वभावत्वनियमात्  
बीजस्य बीजत्वमिव अक्षुरकारित्वमप्युत्पत्तित एव स्यादित्यर्थः । नीलाद्यपि न वस्तुसदिति,  
यदि नीलाद्युत्पत्तौ कारणत्वापेक्षा तदा कारणस्य प्रामाणिकत्वमवश्यमङ्गीकार्यं कारण-  
त्वाप्रामाणिकत्वे कार्येऽप्यप्रामाणिकत्वापत्तेः, तथाचेति यत् पारमार्थिकं तत्साधा-  
रणम् इति व्याख्या प्रथमं साधारणत्वे पारमार्थिकत्वव्यापकत्वनियमः, उत्तरकालं  
कारणत्वञ्च यदि न साधारणम् इत्यादिरीत्या व्यापकत्वाभावेन व्याप्याभावानुमानम् ईदृश-  
मनुमानं बौद्धसम्मतम् एतदुपयति, इत्यपि न स्यादिति एतदनुमानं न समीचीनं  
स्यादित्यर्थः, अत्र हेतुमाह, दृष्टान्तसेति, कारणं विना अभावादिति कारणं विना  
अनुत्पादादित्यर्थः, तथाच यो यत्सापेक्षो भवति स तत्सधर्मा भवति इति नियमात्



नोत्पत्तेरारभ्य कारणत्वम् । कारणत्वस्य साधारण्यं चेष्टापत्तिमाह,  
इति साधारणं न किमिति, नीलादेरपि सर्वसाधारण्यं यत् सर्व-  
स्तथा नीलत्वादिना व्यवहियमाणत्वं, तादृशञ्च साधारण्यं सहकारि-  
युक्तस्य जनकत्वमित्यस्यापि, तथा व्यवहारस्य सर्वसिद्धत्वात् ॥ १८ ॥

नन्वात्मनिष्ठमदृष्टं नात्मजन्यं नित्यविभोस्तस्य कालतो देशतश्च  
व्यतिरेकाभावात् व्यतिरेकसहकृतान्वयस्यैव कारणताग्राहकत्वात्,  
तद्व्यतिरेकप्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्वस्यैव कारणतात्मकत्वाच्च.  
तथाच समवायिकारणाभावे असमवायिकारण-निमित्ताभ्यामपि  
न कार्यं जननीयं तत्प्रत्यासन्नाभ्यामेव ताभ्यां जननादित्यदृष्टस्य  
नित्यत्वापत्तिः, तथाच न प्रतिनियतात्मदेशकालीनभोगजनकत्वं  
कल्पेयत इत्यावाह,—

नीलस्य कारणमापेक्षत्वेन कारणसधर्मत्वात् तद्वैधर्म्यदृष्टान्तेन कारणत्वस्यापारमार्थिकत्वं न  
सिध्यतीति भावः । ननु अनित्यनीलादेः सापेक्षत्वेऽपि नित्यनीलदृष्टान्तेन कारणत्वस्या  
पारमार्थिकत्वं सिध्यतीत्यत आह, नित्यस्येति चणभङ्गवादिसते नित्यवस्तुनोऽपामाणिक-  
त्वादित्यर्थः । सर्वान् प्रतीत्यस्य सर्ववृत्तित्वरूपार्थो न सम्भवति नीलत्वस्य पीतवृत्तित्वाभावात्,  
यदि सर्वव्यवहियमाणत्वम् अर्थः तदा तादृशं सर्वसाधारणत्वं कारणत्वस्यापीष्टमित्याह, इष्टा-  
पत्तिमाहेत्यादि । इति साधारणं न किम् इति मूलस्य एवम्भूतं सर्वसाधारणत्वं 'किं' कथं  
'न' नाङ्गीक्रियते अपि तु अङ्गीक्रियत एवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

स्वैयंसिद्धावपि नित्यविभोर्न कारणत्वमुपपद्यते इति शङ्कते, नन्वित्यादिना, नित्य-  
विभोरिति हेतुगर्भविशेषणम्, आत्मनः कालतो व्यतिरेकाभावे हेतुर्नित्यत्वं, देशतो व्यति-  
रेकाभावे च हेतुर्विभुत्वम्, एतच्च वादिनिरासाय आश्रितत उक्तं, वस्तुतस्तु कारणत्वस्य  
व्यतिरेकगर्भत्वेऽपि यादृशसम्बन्धेन यस्य कारणत्वं तादृशसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताका-  
भाव एव तन्निष्ठकारणताघटकः तथाच समवायसम्बन्धेन कार्यं प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन  
समवायिकारणस्य हेतुत्वात् समवायिकारणनिष्ठकारणत्वं तादृशसम्बन्धावच्छिन्नाभाव-  
गर्भं, तादृशोऽभावः अन्योन्याभाव एव स चात्मनोऽपि प्रविष्ट एवेति ध्येयम्, एतच्चापे  
वस्तुतस्त्वित्यादिना स्फुटीभविव्यति । प्रतिनियतेति नित्यत्वेन सर्वेषु कालेषु सर्वेषाम्



पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित् ।

व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधौरन्यथा न हि ॥१६॥

व्यतिरेकगर्भे न कारणत्वं किन्त्वनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्ति-  
भावः । हि हेतौ, यतो ग्राहको न व्यतिरेकः धर्मिग्राहकमानेनापि  
तस्य प्रमापणात् इत्यतो मीयते येन केनचित् व्यापकस्य नित्यस्या-  
त्मनः येन केनचित् प्रमीयते, अन्यथा धर्मिधौरेव न स्यात्, तथाच  
धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धं तस्य हेतुत्वं, घटादिकं प्रति कपालादेरन्वय-  
व्यतिरेकदर्शनात् समवेतकार्यं प्रति द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन कारणत्वस्य  
कल्पनात्, पृथिव्यादिबाधे परिशेषेण ज्ञानेच्छादौ पृथिव्यादिभिन्न-  
समवायिनः सिद्धिः । वस्तुतस्तु समवायिकारणताघटकोऽन्योन्या-  
भावः, यन्न कपालं तन्न घटवदितिवत् यो न आत्मा न तत्र  
ज्ञानादि इतिधीसम्भवात् । एवं यो न कालस्तत्र सम्बन्ध-

आत्मनाम् अदृष्टवत्त्वमिति भावः । पूर्वभावोहीति हि यतः पूर्ववर्त्तिलक्षणं हेतुत्वम्,  
अतः नित्यस्य कालतः व्यतिरेकाप्रतियोगिनः, व्यापकस्यापि देशतो व्यतिरेकाप्रति-  
योगिनोऽपि, आत्मनः तद्धेतुत्वं येन केनचित् प्रमाणेन धर्मिग्राहकप्रमाणेन मीयते निर्णेतुं  
शक्यते, अन्यथा हेतुत्वाभावे न धर्मिधीः स्यादिति शेषः, इति कारिकायाः । व्याख्यायां  
ग्राहको न व्यतिरेक इति तथाचान्वय-व्यतिरेकग्रहस्य न कारणताग्रहसामान्यं प्रति हेतुत्व-  
मिति भावः । धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धमिति, प्रमाणञ्च ज्ञानेच्छादिकं समवायिकारणजन्यं  
समवेतकार्यत्वादित्येवंरूपम्, ईदृशप्रमाणेन इतरबाधसहकारात् आत्मनः ज्ञानादि-  
समवायिकारणत्वसिद्धिः । न च ज्ञानादिकं किञ्चित्समवेतं गुणत्वात् संयोगवत्  
इत्यनुमानेन इतरबाधसहकारात् आत्मनः सिद्धौ कथं हेतुत्वस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धत्व-  
मिति वाच्यम् । जन्मज्ञानादिः आत्मसमवेतत्वे सिद्धे यत् जन्म सत् यत्समवेतं भवति  
तत् तत्समवायिकारणकं भवति इति सामान्यतोऽप्यात्मा आत्मसमवायिकारणकत्वसिद्धौ  
साक्षात् परस्परया वा हेतुत्वस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात् । घटादिकं प्रतीतिं तथाच  
अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां घटादिकं प्रति कपालादेः समवायिकारणत्वे सिद्धे यद्विशेषयोरिति



विशेषेण न घट इति निमित्तकारणस्याधिकरणीभूतस्य कारण-  
ताप्यन्योन्याभावरूपव्यतिरेकेण ग्राह्या । एवञ्च माया-प्रकृत्यविद्यादि-  
पदमध्येतत्परमिति न “मायिकं जगत्” इत्यादिश्रुतिविरोधः,  
तथाचाट्टाधिष्ठातृतया ईश्वरसिद्धिः ॥ १८ ॥

स्तवकार्यसंग्राहकश्लोकमाह ।

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो-  
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता ।  
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः  
साक्षात्साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तो मम ॥ २०  
इति प्रथमः स्तवकः ।

इति स्तवकसमाप्ती, यस्येशस्य सहकारिशक्तिः कारणं, एषा सह-  
कारिरूपा माया, असमत्वं सर्वकार्यापेक्षणीयत्वात्, दुरुन्नेयत्वात्  
सादृश्यान्मायापदेऽदृष्टे लक्षणा, मूलत्वात् प्रकृतिः सैव, तत्त्वज्ञान-  
प्रतिबध्यत्वात् सैवाविद्या, उदिता उक्ता, असी देवो मम मनसि

न्यायेन समवेतकार्यमात्रं प्रति द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन हेतुत्वसिद्धिरिति भावः । कारणत्वस्य  
व्यतिरेकगर्भत्वेऽपि नात्मनः कारणत्वव्याघात इत्याह वस्तुतस्त्वित्यादिना । नित्यविभोरात्मनो  
यथा समवायिकारणत्वं तथा नित्यविभोः कालस्यापि निमित्तकारणत्वम् इत्याह, एवमिति,  
सम्बन्धविशेषेण कालिकसम्बन्धेनेत्यर्थः । अदृष्टाधिष्ठातृतया अदृष्टजन्यकार्ये सचेतनसह-  
कारितया, अचेतनं सचेतनाधिष्ठितमेव कार्यजनकम् इति नियमात्, अत्र सचेतनाधिष्ठितत्वं  
सचेतनसहकारिसम्पन्नत्वम् इति ॥ १८ ॥

“यन्मायाप्रभवं विश्वं” “प्रकृतिप्रभवं विश्वम्” इत्यादि बहुतरागमाविरोधमाह,  
इत्येवेति । असमत्वम् असदृशत्वं, सर्वकार्यापेक्षणीयत्वादिति, तथाच जन्यमात्रं  
प्रति अदृष्टस्य हेतुत्वात् सर्वकार्यापेक्षणीयत्वमिति भावः । अदृष्टे लक्षणेति, न च  
लक्षणायाः शक्तिमूलकत्वात् मायापदस्य शक्तिविरहिण्य कथं मायापदस्य अदृष्टे लक्षणा



स्वविषयां साक्षादभिरतिं साक्षात्कारि ज्ञानं, बध्नातु जनयतु, साच्चि-  
तया साचीभूय, निर्णायकतया साचित्वं, शान्तः रागादिगुणशून्यः,  
प्रपञ्चस्य मिथ्याज्ञानादेः क्लोलः मिथ्याज्ञानपरम्परा, तस्याः कोला-  
हलः किंवदन्ती सा विरता यस्मादिति ॥ २० ॥

इति प्रथमस्तवकव्याख्यानम् ।

## द्वितीयः स्तवकः ।

अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवादिति द्वितीयविप्रति-  
पत्तिः । अन्यथा ईश्वरं विनापि परलोकसाधनं यागाद्यनुष्ठानं  
सम्भवति यागादेः स्वर्गसाधनत्वस्य वेदगम्यत्वात्, नित्यनिर्दोषतया  
च वेदस्य प्रामाण्यं महाजनपरिग्रहाच्च प्रामाण्यस्य ग्रह इति वेद-

इति वाच्यम् । 'दोषविशेषमुत्पाद्य भ्रमजनकात्मनिष्ठस्यापारविशेषे मायापदस्य शक्तत्वात् ।  
कारिकायां प्रबोधभयत इति प्रबोधात् तत्त्वज्ञानात् भयम् अदृष्टनाशरूपं तथादित्यर्थः,  
एतत्कारिकायां विवृणोति तत्त्वज्ञानप्रतिषेधत्वादिति । अविद्येति विरोधार्थकानञ्च तत्त्वज्ञान-  
रूपविद्याविरोधिनीत्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीकामाख्यानाथतर्कवागीशविरचितायां कुसुमाञ्जलिब्याख्याविहती

प्रथमस्तवकव्याख्याविहतिः समाप्ता ।

द्वितीयां भीमांसकविप्रातपत्तिमुत्थापयति, अन्यथापीति, तथाच वेदः पौरुषेयो  
न वेति विप्रतिपत्तिः, अत्र विधिकीटिर्नैयायिकानां, निषेधकीटिर्भीमांसकानाम् ।  
अथवा यागादौ वेदजन्येष्टसाधनताप्रमा शाब्दान्यवक्तृव्यार्थज्ञानपूर्विका न वेत्यादिरूपा  
विप्रतिपत्तिः, अध्यापक्यवार्थज्ञानपूर्वकत्वमादाय सिद्धसाधनवारणाय शाब्दान्येति ।  
नित्यनिर्दोषतयेति नित्यतया निर्दोषतया चेत्यर्थः निर्दोषत्वं भ्रम-प्रमादाद्यन्यतमदोषवत्



कारणतया नेश्वरसिद्धिः, योगर्हिसमादितसार्वज्ञकपिलादिपूर्वक  
एव वा वेदोऽस्तु इत्यत्राह,—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात् ।

तदन्यस्मिन्न विश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥१॥

शाब्दी प्रमा वक्तृयथार्थवाक्यार्थधीरूपगुणजन्या इति गुणाधार-  
तया ईश्वरसिद्धिः । ननु सकर्तृकेऽस्तु यथार्थवाक्यार्थधीर्गुणः अकर्तृके  
च वेदे निर्दोषत्वमेव प्रामाण्यप्रयोजकमस्तु, महाजनपरिग्रहेण च  
प्रामाण्यग्रह इत्यत्र आह सर्गप्रलयसम्भवादिति, प्रलयोत्तरं पूर्ववेद-  
नाशादुत्तरवेदस्य कथं प्रामाण्यं महाजनपरिग्रहस्यापि तदा अभा-  
वात् । शब्दस्थानित्वत्वम् उत्पन्नोक्तकार इति प्रतीतिसिद्धं, प्रवाहा-  
विच्छेदरूपनित्यत्वमपि प्रलयसम्भावान्नास्तीति भावः । कपिला-  
दय एव पूर्वसर्गादौ पूर्वसर्गाभ्यस्तयोगजन्यधर्मानुभवात् साक्षात्-  
कृतसकलार्थाः कर्तारः सन्तु इत्यत्र आह तदन्यस्मिन्निति, विश्व-

पुरुषाप्रणीतत्वं तथाच अन्यत्र वाक्ये वक्तृदोषेणामाण्यशङ्कासम्भवेऽपि नित्यत्वादवक्तृके  
वेदे तत्प्रशङ्कासम्भावना नास्तीति भावः । ननु वेदस्य ईश्वराप्रणीतेले कथं तत्प्रामाण्य-  
ग्रहः इत्यत्र आह, वेदस्येति तथाच वेदः प्रमाणं महाजनपरिग्रहीतत्वादित्यनुमानेन  
वेदप्रामाण्यग्रह इति भावः । नेश्वरसिद्धिरिति, तथाच वेदो न पौरुषेयः नित्यत्वादि-  
त्यनुमानेन वेदः सबक्तृको वाक्यत्वादित्यनुमानस्य वाधात् नेश्वरसिद्धिरिति भावः । वेदस्य  
वक्तृगुणजन्यत्वपक्षेऽपि अन्यथासिद्धिमाह, योगेति, तथाच सर्वज्ञाः कपिलादय एव वेद-  
कर्तारः अदृष्टाधिष्ठातारयेति न नित्यसर्वज्ञसिद्धिरिति भावः । कारिकायां प्रमाया  
इति, प्रमायाः अन्यप्रमायाः परतन्त्रत्वात् पराधीनत्वादित्यर्थः । व्याख्यायां शाब्दीप्रमे-  
त्यादि, तथाच वेदजन्या शाब्दी प्रमा गुणजन्या प्रमात्वात् चाक्षुषप्रमावदिति सामान्यतो-  
ऽनुमानेन इतरबाधसहकारात् वक्तृयथार्थधीरूपगुणजन्यत्वे सिद्धे वेदजन्यशब्दबोधजनक-  
यथार्थवाक्यार्थज्ञानम् आत्मसमवेतं ज्ञानत्वादित्यनुमानेन इतरबाधसहकारादीश्वरसिद्धि-  
रिति भावः । महाजनपरिग्रहेणेति प्रमाणतया महाजनस्वीकारेणेत्यर्थः । सर्गप्रलय-



निर्माणमग्नीं अग्निमादिएतिउत्पन्ना यदि सर्वज्ञास्तः लाघवा-  
देक एव तादृशः स्वीक्रियतां स एव भगवानोश्चरः, अनित्यासर्व-  
विषयकज्ञानवति च विश्वास एव नास्तीति वैदिकव्यवहारविलोप-  
इति न विधान्तरसम्भवः ईश्वरानङ्गीकर्तृनये इति शेषः ॥१॥

ननु सर्गप्रलयसम्भवादिति न युक्तं प्रलये मानाभावादिति ।  
अहोरात्रस्याहोरात्राव्यवहितपूर्वकत्वनियमात्, कर्मणां विषमविपाक-  
तया कालोपाधित्वस्य भोगव्याप्यत्वात् युगपददृष्टस्य च वृत्तिनिरो-  
धानुपपत्तेः, ब्राह्मणस्य ब्राह्मणजन्यत्वनियमात् सर्गाद्युत्पन्नस्य ब्राह्म-  
णत्वाभावात् उत्तरकालेऽपि ब्राह्मणव्यवहारानुपपत्तेः, प्रयोज्यप्रयो-  
जकयोरभावात् सङ्केतग्रहाभावे शब्दव्यवहारानुपपत्तेः, घटादि-  
निर्माणे नैपुण्यस्य पूर्वदर्शनसापेक्षस्य सर्गादावभावात् घटादिसम्भ-  
दायोच्चेदादित्यादेर्बाधकाच्च तत्राह,—

सम्भवादिति, तथाच वेदस्य न नित्यत्वमिति वेदवक्तृतथापीश्वरसिद्धिरिति भावः ।  
वेदस्यानित्यत्वे प्रमाणान्तरं दर्शयति, शब्दस्यानित्यत्वमिति, तथाच / शब्दस्यानित्यत्वे आनु-  
पूर्वीविशेषविशिष्टस्य सुतरामनित्यत्वमिति भावः । ननु उत्पन्नोपकार इति प्रतीत्या  
वेदस्य स्वाभाविकनित्यत्वाभावेऽपि प्रवाहाविच्छेदरूपं नित्यत्वं स्यात् अध्यापकाध्येद-  
पारम्पर्येण कालमात्रस्य वेदाधिकरणत्वं सम्भवतीत्याशङ्क्यह, प्रवाहाविच्छेदिति, वेदस्य  
प्रवाहाविच्छेदरूपं नित्यत्वञ्च कालत्वस्य वेदाधिकरणत्वव्याप्यत्वस्वरूपं तच्च न सम्भवती-  
त्याह, प्रलयसम्भवादिति, तथाच प्रलयस्य अध्यापकाध्येदसम्भवाभावेन वेदाधिकरणत्वा-  
सम्भवात् न कालत्वस्य वेदाधिकरणत्वव्याप्यत्वमिति भावः । उपसंहरति, कारिकायां न  
विधान्तरसम्भव इति न प्रकारान्तरसम्भव इत्यर्थः ॥ १ ॥

प्रलये साधकाभावमाह, मानाभावादिति, साधकाभावमुक्त्वा क्रमेण बाधकपक्षक-  
मप्याह, अहोरात्रस्येत्यादिना, अव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वेति, पूर्वसर्गाहोरात्रपूर्वकत्वेन  
प्रलयेऽपि साध्यसिद्धेराह, अव्यवहितेति । कर्मणां कर्मजन्यादृष्टानामित्यर्थः, विषमविपाक-  
तया फलजनने प्रतिबन्धकारहिततया कर्मणां प्रतिक्षणफलजननसम्भावतयेति यावत् ।  
केचित्तु विषमविपाकतया विषमोविभिन्नकालीनो विपाको भोगो येषां तत्त्वेन, विभिन्न-



• वर्षादिवद्भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत् ।

उद्भिदृष्टिकववर्णा मायावत् समयादयः ॥ २ ॥

यथा वर्षादिनस्याव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वे साध्ये राशिविशेषा-  
वच्छिन्नरविकालपूर्वकत्वमुपाधिस्तथाहोरा-तस्याव्यहिताहोरातपूर्वक-  
त्वेऽव्यवहितसंसारपूर्वकत्वमुपाधिः, भवोपाधिः संसारावच्छेदक-  
कालोपाधिः स एव उपाधिरित्यर्थः । सुषुप्तिकाले कतिपयव्यक्ति-  
निष्ठभोगजनकादृष्टनिरोधवत् कालविशेषात् समस्तात्मनां समस्ता-  
दृष्टनिरोधस्तदिदमुक्तं वृत्तिरोधः सुषुप्तिवदिति । उद्भिदृष्टि-  
तस्य यथा तण्डुलकणात् शाकविशेषबीजाच्च उद्भवः, यथा वा वृश्चि-  
कस्य गोमयाद् वृश्चिकाच्च उद्भवस्तथा कालविशेषेऽदृष्टविशेषात् केवलात्  
इदानीच्च ब्राह्मणात् ब्राह्मणोत्पत्तिः, वैजात्यस्य कार्यतावच्छेकत्वान्न  
व्यभिचारः । यथा मायावी सूत्रसञ्चाराधिष्ठितदारुपुत्रकं कृत्वा  
दारुपुत्रकं घटमानयेत्यादि नियोज्य घटानयनं सम्पाद्य बालकस्य

कालोभोगजनकतयेति पथ्येवसितम् इत्याहुः । एकदा नानाफलानुत्पादस्य फलवलेन  
सामर्थ्यप्रतिबन्धकत्वकल्पनादेवोपपादनीयं, तथाच कालोपाधिः भोगाधिकरणं कालोपाधि-  
त्वादित्यवच्छेदावच्छेदेन साध्यसिद्धेर्विरोध इति भावः । युगपदिति एकदा समस्तादृष्टस्य  
फलजनकत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । घटादिसम्प्रदायोच्छेदात् घटादिप्रवाहविच्छेदादित्यर्थः ।  
कारिकायां वर्षादिवदिति वर्षासम्बन्धिदिनलरूपहेतुवदित्यर्थः, आदिना शरदादिपरि-  
ग्रहः । प्रथमवाधकमुद्धरति, व्याख्यायां यथेत्यादिना, यथा वर्षादिनम् अव्यवहित-  
वर्षादिनपूर्वकं वर्षादिनत्वात् साम्प्रतिकवर्षादिनवदित्यत्र वर्षादिनलरूपहेतुः कर्कट-  
सिंहान्यतरराश्यावच्छिन्नरवधिकरणकालाव्यवहितपूर्वकत्वरूपेण उपाधिना सोपाधित्वेन  
नाव्यवहितवर्षादिनपूर्वकत्वनिरूपितनियमवान् तथा अहोरात्रम् अव्यवहिताहोरात्र-  
पूर्वकम् अहोरात्रत्वात् साम्प्रतिकाहोरात्रवदित्यत्र अहोरात्रत्वरूपो हेतुः अव्यवहितसंसार-  
पूर्वकत्वरूपेण भवेनोपाधिना सोपाधित्वेन नाव्यवहिताहोरात्रपूर्वकत्वनिरूपितनियम-  
वानिति समुद्दितात्यर्थम् । अत्र वर्षाप्रथमदिनात्तर्भावेण कर्कट-सिंहान्यतरराश्या-



व्युत्पत्तौ प्रयोजकस्तथेश्वरोऽपि प्रयोज्य-प्रयोजकभावापन्नं शरीरद्वयं  
परिगृह्य व्यवहारं कृत्वा तदानौन्तनानां शक्तिं ग्राहयति । एवं  
घटादिसम्प्रदायमपि स्वयं कृत्वा शिष्ययति, तदिदमुक्तं मायावत्  
समयादय इति । समयः शक्तिग्रहः ॥ २ ॥

बाधके निरस्ते साधकमप्याह,—

जन्म-संस्कार-विद्यादेः शक्तेः स्वाध्याय-कर्मणोः ।

ज्ञासदर्शनतोज्ञासः सम्प्रदायस्य मौयताम् ॥ ३ ॥

सम्प्रदायस्य वेदादिसम्प्रदायस्य ज्ञासोऽनुमौयतां, कुतः जन्मादे-  
र्ज्ञासदर्शनात् । प्रयोगश्च वेदादिसम्प्रदायोऽयमत्यन्तमुच्छिद्यते  
ज्ञसमानत्वात् प्रदीपवत् । स्वरूपासिद्धिप्रद्वारायाह जन्मेति । पूर्वं  
मानस्यः प्रजास्ततः पुत्रमात्रार्थिताप्रयुक्तमैथुनजाः सम्प्रति सम्भोग-  
कामिप्रवृत्त्यावर्जितजन्मान इति जन्मज्ञासः । पूर्वं चरुप्रभृतिषु

वच्छिन्नरन्ध्रधिकरणकालाव्यवहितपूर्वकत्वस्य उपाधेः साधनाव्यापकत्वम् । “आसीत्  
दिवाष्टजद्रात्रिमहोरात्रं क्रमान् क्रमम्” इति नियमेन अनादिदिनोत्तरं रात्रिरुपपद्यते  
ततः क्रमयोऽहोरात्रं, तादृशाहोरात्रान्तर्भावेण अव्यवहितसंसारपूर्वकत्वस्य उपाधेः  
साधनाव्यापकत्वं, तादृशनियमानङ्गीकारे उपाधेः साधनाव्यापकत्वहान्यापत्तेः । केचित्तु  
सर्गाद्यदिनान्तर्भावेण उपाधेः साधनाव्यापकत्वमित्याहुः । तन्मन्तं परैः प्रत्ययान्भुपगमेन  
तन्मते सर्गाद्यदिनाप्रसिद्धेः । द्वितीयबाधकमुद्धरति सुषुप्तिकाल इति । तृतीयबाधक-  
मुद्धरति उद्भिदिति, चतुर्थबाधकमुद्धरति यथा चेत्यादि, पञ्चमबाधकमुद्धरति एव-  
मित्यादि ॥ २ ॥

बाधके निरस्ते इति तथाच बाधकसत्त्वे साधकमकिञ्चित्करं भवति अतोबाधक-  
निरासानन्तरं साक्षकोत्कौचनमिति भावः । ज्ञास इति स्वाश्रयकालोत्तरकालवश्य-  
भावप्रतियोगित्वमित्यर्थः । अभिमतसिद्धानुकुलं प्रयोगमाह प्रयोगश्चेति अनुमानश्चेत्यर्थः,  
अत्यन्तमुच्छिद्यत इति स्वसजातीयानधिकरणकालवृत्तिष्वसंप्रतियोगित्वम् अत्यन्तोच्छेदः,  
तथाच स्वसजातीयानधिकरणकालः प्रलयकालः एव तद्वृत्तिष्वसंप्रतियोगित्वं वेदादिसम्प्र-



संस्कारः ततोर्गर्भे ततोजननानन्तरम् इदानीं कथञ्चिदिति संस्कार-  
 ङ्गासः । पूर्वं सहस्रशास्त्रस्य चतुर्वेदस्याध्ययनं तत एकस्याः शाखाया-  
 इत्यादिक्रमेण विद्याङ्गासः । विद्यादेरित्यादिना वृत्ति-धर्मादि-  
 संग्रहः, पूर्वमुच्छृण्वन्तस्ततोऽयाचितवृत्तयस्ततः कृत्वादिवृत्तय-  
 स्ततः सेवावृत्तय इति वृत्तिङ्गासः । पूर्वं तपोज्ञान-यज्ञ-दानात्मक-  
 चतुष्पादधर्मस्ततस्त्रेतादौ एकैकङ्गासः कलौ च विसंष्टुलः खल्वहानैक-  
 पादिति धर्मङ्गासः । पूर्वं यज्ञशेषभुजस्ततोऽतिथिशेषभुजस्ततः  
 स्वार्थसाधितभुजस्ततोऽभुत्यादिसङ्गभुज इत्यपि धर्मङ्गासः । स्वाध्याय-  
 स्वाध्ययनस्य कर्मणो यागादेः शक्तेः सामर्थ्यस्य ङ्गासात् अध्ययन-  
 शक्तेः कारणस्य ङ्गासात् विद्याशक्तेः कार्यस्य ङ्गास इति पृथङ्-  
 निर्देशः । एवञ्च ब्रह्माण्डनाशे तदन्तर्गतप्राणिनां नाश इति प्रलय-  
 सिद्धिः । भक्ष्य पेयाद्यहैतराग-जीविका-कुतर्काभ्यासव्यग्रताभिसन्धि-

दायस्येति भावः । ङ्गसमानत्वादिति पूर्वपूर्वापेक्षया अपक्वत्वमित्यर्थः । इदानीं कथञ्चि-  
 दिति इदानीं लौकिकव्यवहारमाश्रित्येत्यर्थः । उच्छृण्वन्तस्तत इति चैवस्वामिना गृहीत-  
 शस्त्रात् चेवात् कणशः समुच्चयरूपाहरणानि, विसंष्टुलः अतिजीर्णः, खल्वहानैकपादिति  
 खल्वन् प्रलयहमपचौयमानवीर्यतया इतस्ततः खल्वन् दानरूप एकापादो यस्य स तथाविध-  
 इत्यर्थः । सामर्थ्यस्य ङ्गासादिति अध्ययनसामर्थ्यस्य यागसामर्थ्यस्य च ङ्गासादित्यर्थः,  
 ननु पूर्वं विद्याङ्गासः इत्युक्तम् अधुना अध्ययनङ्गास इत्युक्तौ कथं न पौनरुक्त्यम् इत्या-  
 शङ्काह अध्ययनशक्तेरिति, तथाचाध्ययनशक्तिङ्गासात् अध्ययनरूपकार्यस्य ङ्गासः स एव  
 विद्याशक्तिङ्गासः अध्ययनस्यैव विद्याशक्तिरूपत्वादित्येतत्प्रदर्शनार्थमेव पृथगुपादानमिति  
 भावः । ब्रह्माण्डनाश इति यथा कुपितकपिकपोलान्तर्गतौडुम्बरनाशे तदन्तर्गत-  
 मसकसमुद्घनायः तथा ब्रह्माण्डनाशे तदन्तर्गतसकलप्राणिनां नाश इति भावः ।  
 महाजनपरिग्रहाच्च वेदभ्रामाख्यग्रह इत्युक्तं कः स महाजन इत्याकाङ्गायामाह भक्ष्य-  
 त्यादि भक्ष्य-प्रेयादीत्यादिना भक्ष्यपियपरिग्रहः, भक्ष्याभक्ष्ययोः पेयापेययोश्च वद-  
 हैतम् भक्ष्यग्रहः तन्मूलको यो राग इच्छाविशेषः तन्निवन्धना तादृशरागचरितार्थतार्था  
 या प्रवृत्तिः, जीविका जीवनोपायः तन्निवन्धना या प्रवृत्तिः, कुतर्कस्य असत्तर्कस्य वेद-



पाषण्डसंसर्गप्रतारणादिनिवन्धनान्या या प्रवृत्तिर्यागादौ तद्वान्महा-  
जनस्तत्परिग्रहात् वेदप्रामाण्यमिति ॥ ३ ॥

स्तवकार्यसंग्राहकश्लोकमाह ।

कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्  
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति ।  
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवम्  
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥४॥

इति द्वितीयः स्तवकः ।

विरुद्धतर्कस्थेति यावत्, योऽभ्यासः यन्नैरन्तर्यं तव या व्ययता आसक्तिः तन्निवन्धना या प्रवृत्तिः,  
अभिसन्धिः परानिष्टेच्छा तन्निवन्धना या प्रवृत्तिः, पाषण्डः वेदाचारव्यागी तेन सह यः संसर्गः,  
तन्निवन्धना या प्रवृत्तिः, प्रतारणा परवचनेच्छा तन्निवन्धना या प्रवृत्तिः, आदिपदात् ऐश्वर्याभि-  
मानादिनिवन्धना या प्रवृत्तिः, तत्तत्प्रवृत्तिभेदकूटविशिष्टा या यागादिगोचरप्रवृत्तिः तद्वान्  
महाजन इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्तेष्वपि अन्तर्कालेष्वपि तं प्रति उद्दिश्य नमन् भूयासम् इत्याशंसा । स क इत्या-  
शङ्कयामाह कारं कारमित्यादि, यः इन्द्रजालमिव अलौकिकाद्भुतमयम् अलौकिकं लोका-  
तीतम् अद्भुतमयं विचित्ररूपं जगत् कार्यजातं कारं कारं कृत्वा कृत्वा संहरन् संहारं कुर्वन्  
हारं हारं कृत्वा कृत्वा कुर्वन् उत्पादयं क्रीडति स्वरूपेण स्फुरति, अन्तोऽपि क्रीडासक्तः यथा  
इन्द्रजालं पुनः पुनर्घटयन् क्रीडति तथा क्रीडतीत्यर्थः, क्रीडावैचित्र्यापनार्थम् अलौकिकाद्भुत-  
मयमिति जगद्दिशेषणम् । ननु सहकारिविशेषं विना कथं विचित्रकर्म कृतम् इत्याकाङ्क्षयामाह  
मायावशादिति सृष्टि-संहारहेतुभूतादृष्टसहकारित्वेति, नायावशादिति संहरन् कुर्वन्  
इत्युभयत्रान्वितम् । तं क्रीडयं, देवं स्तुत्यं, स्तुतिप्रयोजकमाह निरवग्रहेति निष्प्रतिवन्ध-  
स्फुरदिच्छाप्रभावम्, अन्याहतेच्छमिति यावत्, विश्वासैकभुवं प्रमादादिदोषरहितं, भवं  
जगन्मूलकारणं, शिवं मङ्गलस्वरूपम् ॥ ४ ॥

इति श्रीकामाख्यानाथतर्कवागीशविरचितायां कुसुमाञ्जलिब्याख्याविहारी

द्वितीयस्तवकव्याख्याविहतिः समाप्ता ।



## तृतीयः स्तवकः ।

तदभावावेदकप्रमाणसम्भवादिति तृतीयविप्रतिपत्तिः । भूतले घटाभाववदीश्वरस्याप्यनुपलब्धेरभावस्य ग्रहात्, परमात्मनोऽयोग्य-  
तया योग्यानुपलब्धेरभावात् नाभावग्रहो यदि तदा शशशृङ्गस्याप्य-  
योग्यस्य नाभावः सिद्धेऽदित्यत्राह ।

योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम् ।

क्वायोग्यं बाध्यते शृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥ १ ॥

अयोग्ये परमात्मनि योग्यानुपलब्धिः कुतः, सैव बाधिका, या  
चास्ति सा न बाधिका, अन्यथाकाश-धर्माधर्मादिविलयापत्तेः ।  
शृङ्गन्तु योग्यमेव तथाच कुतः प्रतिबन्धिः । अयोग्यन्तु शशशृङ्गं न

तृतीयां विप्रतिपत्तिं दूषयितुमुत्थापयति तदभावावेदकेति, अनुपलब्धिरभाव-  
यादिका न वेति विप्रतिपत्तिः, अत्र विधिकोटिः बौद्धानाम् अभावकोटिः नैयायि-  
कानाम् । न चानुपलब्ध्या सर्वत्र गगनाभावयद्देषि यथा गगनस्य न अस्तित्वव्याघातः  
तथा अनुपलब्ध्या ईश्वराभावयद्देषि न ईश्वरस्यास्तित्वव्याघात इति वाच्यम् । चित्यादिकं  
यदि ईश्वरकर्तृकं स्यात् तदा तद्वत्तथा उपलभ्येत यतो नोपलभ्यते अतः ईश्वरकर्तृकत्वा-  
नुपलब्ध्या चित्यादौ ईश्वरकर्तृकत्वाभावनिययेन चितिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यनुमान-  
बाधापत्तेरिति बौद्धानामाशयः । अद्यत्तिपदार्थस्य कालवृत्तित्वनये तु कालिकसम्बन्धावच्छिन्न-  
प्रतियोगिताकपरमात्माभावं एव साधनीय इति न काचिदनुपत्तिरिति । नन्वनुपलब्धि-  
भावस्य अभावयादृक्त्वे अतीन्द्रियमात्रोच्छेदप्रसङ्गः अतः भवद्भिरपि योग्यानुपलब्धेर-  
भावयादृक्त्वमभ्युपेयं तथाचेष्टारसाद्योग्यतया तदनुपलब्ध्या कथमीश्वराभावसिद्धिरित्या-  
शङ्कते परमात्मान इति । योग्यानुपलब्धिरिति स्वप्रतियोग्युपलब्धिविषयनिष्ठयोग्यता-  
सम्बन्धेनेत्यादिः, योग्यानुपलब्धिः योग्यताविशिष्टानुपलब्धिरित्यर्थः । सैव योग्यानुप-  
लब्धिरेव, बाधिका अभावयादृिका, या चास्तीति, तथाच ईश्वरे यानुपलब्धिरस्ति सा  
नाभावयादृिका योग्यानुपलब्धेरभावभावयादृक्त्वादिति भावः । अन्यथा अनुपलब्धि-  
भावस्याभावयादृक्त्वे इत्यर्थः । कारिकायां प्रतिबन्धिरिति यदि तु शृङ्गं योग्यमेव तदा



बाध्यते किन्तु साधकाभाव एव तत्र । प्रकृते च पञ्चमस्तवके साध-  
 कस्य वक्तव्यत्वात् । ननु कर्तृत्वव्यापकशरीर-प्रयोजनाभिसम्बन्धनयो-  
 रभावात् ईश्वरस्याभावोऽनुमेय इत्यत्राह कानुमानमनाश्रयमिति ।  
 ईश्वरस्याश्रयस्य पक्षस्यासिद्धेः, सिद्धौ च धर्मिग्राहकमानेन अनुमान-  
 बाध एव ॥ १ ॥

ननु असत्ख्यात्युपनीत ईश्वरस्तत्र कर्तृत्वाभावः तस्यैव आभावः  
 साध्य इत्यत्राह ।

व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकौ हि विशिष्यता ।

अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥ २ ॥

सुतरां न प्रतिबन्धिरित्यर्थः, तराम् इति सुतरामित्यर्थे निपातः, ईदृशमेवार्थं वर्णयति,  
 व्याख्यायां शङ्कन्त्विति । न बाध्यत इति न निषिध्यत इत्यर्थः, तथाचाशौच्यशङ्-  
 शङ्काभावश्चो न कुदापीति भावः । इदमुपपन्नं यथा परमात्मनोऽयोग्यतया न  
 तदनुपलब्ध्या तदभावपक्षः तथा परमात्मकर्तृत्वस्यापि अयोग्यपरमात्मघटितत्वेनायोग्य-  
 त्वात् न तदनुपलब्ध्या तदभावपक्ष इति द्रष्टव्यम् । व्यापकानुपलब्धिलिङ्गकानुमानं  
 बाधकमाशङ्क्य निषेधति नन्वित्यादिना, प्रयोजनाभिसम्बन्धनेति प्रयोजनाभिसम्बन्धनश्च  
 फलेच्छा, तथाच फलेच्छाजन्या उपायेच्छा तज्जन्या प्रवृत्तिरिति परम्परया फलेच्छा-  
 जन्यायाः प्रवृत्तेः व्यापकत्वं फलेच्छायामिति व्यापकौभूतफलेच्छाभावात् कर्तृत्वाभावसिद्धिः ।  
 न च फलेच्छायाः प्रवृत्तिव्यापकत्वेऽपि कर्तृत्वव्यापकत्वाभावात् कथं फलेच्छाभावेन कर्तृत्वा-  
 भावसिद्धिरिति वाच्यम् । प्रवृत्तेरेव कर्तृत्वदपत्तात् । अनुमानश्च ईश्वरः कर्तृत्वाभाववान्  
 कर्तृत्वव्यापकस्य शरीरस्य प्रयोजनाभिसम्बन्धनस्य वा अभावात् इत्येवंरूपम् । विनिगमका-  
 भावात् हेतुद्वयानुसरणम्, अथवा एकलिङ्गेन अनुमानमुक्त्वा दाढ्यां लिङ्गान्तरेणानुमानं  
 दर्शितम् । कारिकायां कानुमानमनाश्रयमिति अनाश्रयम् अलोकाश्रयम् क कुवेत्यर्थः ।  
 टीकायाम् अनुमानबाध एवेति, तथाच यादृशानुमानेन ईश्वररूपधर्मिसिद्धिः तादृशानुमानेन  
 ईश्वरे कर्तृत्वस्यापि सिद्धेः प्रकृतानुमानबाध एवेत्यर्थः ॥ १ ॥

पञ्चासिद्धिमुपचर्त्तुं शङ्कते नन्विति, असत्ख्यात्युपनीत इति असतः अलोकास्य ख्यातिः



व्यावर्त्यः प्रतिषेध्यः, तदभाववत्ता भाविकी पारमार्थिकी हि यतः  
विशेष्यता अभावस्याश्रयता, तथाचालीकं न विशेष्यमित्यर्थः । अभाव-  
विरहात्मत्वं प्रतियोगित्वमवस्तुनो नेति नालीकस्य प्रतिषेधाधिकर-  
णत्ववत् प्रतिषेध्यत्वमपीति भावः ॥ २ ॥

ननु अयोग्यस्याप्यनुपलब्ध कथं नाभावग्रह इत्यत आह,  
दुष्टोपलम्भसामग्रौ शशशृङ्गादियोग्यता ।

न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥३॥

योग्यानुपलब्धिरेवाभावग्राहिका, अन्यथाऽतीन्द्रियमात्रोच्छेदा  
पत्तेः । योग्यता च प्रतियोगि-तदव्याप्येतरयावदुपलम्भसामग्रौसमव-

ज्ञानं, तदुपनीतः तद्विषय इत्यर्थः । तस्यैव वेति, तथाच ईश्वरः सर्वकालवृत्त्यभावप्रति-  
योगी प्रत्यक्षावविषयत्वात् ईश्वरोनास्ति अस्तित्वेनोपलब्धभावादित्यनुमानेन ईश्वराभावः  
साधनीय इति भावः । प्रतिषेध्यः प्रतिषेध्यः प्रतियोगीति यावत् । विशेष्यता इत्यस्यापि  
वस्तुनः इत्यनेन सम्बन्धः, तथाच विशेष्यता अभावाश्रयता वस्तुन एव नालीकस्येति  
भावः ॥ २ ॥

शान्तः पुनः शङ्कते नन्विति, अयोग्यस्य प्रत्यक्षावविषयस्य परमात्मनः अनुपलब्धा  
योग्यतासङ्घातानुपलब्ध्येत्यर्थः । कथं नाभावग्रह इति, तथाच प्रतियोगि-तदव्याप्ये-  
तरपरमात्मोपलब्धकारणधर्मान्द्रियसत्तिकर्ष-बाधनिश्चयाभावादिसम्बलनरूपयोग्यतासत्त्वादिति भावः ।  
शशशृङ्गालीकास्थले दोषसङ्गततज्ञानसामग्रीरूपा योग्यता वाच्या, तस्याश्च  
सत्यां नालीकस्यानुपलम्भः उपलब्धस्यैव सत्त्वात् अनुपलब्धदशायाश्च तज्ञानसामग्रीरूपा  
योग्यतैव नास्तीति समाधत्ते, दुष्टोपलम्भेत्यादि । प्रतियोगि-तदव्याप्येतरैति तदव्याप्यः  
प्रतियोगिव्याप्यः प्रतियोगिसन्निकर्षः इत्यर्थः, प्रतियोगिनः तत्सन्निकर्षस्य च प्रत्यक्ष-  
हेतुतया प्रतियोग्युपलब्धकसामग्र्युत्पत्तेर्गत्वात् तादृशसामग्रीसमवधानं कृताव्यभावप्रत्यक्षे न  
सम्भवतीत्युक्तं प्रतियोगि-तदव्याप्येतरैति । अयं भावः प्रत्यक्षस्य द्विविधा सामग्री सद्विषयस्थले  
विषयसहितः चक्षुरादिकारणकलापः, असद्विषयस्थले च विषयरहितः पित्तादिदोष-  
सहितश्च चक्षुरादिकारणकलापः । तत्र प्रथमा विषयसहिता द्वितीया च सर्वदैव विषय-



धानम्, एवञ्च शशशृङ्गे योग्यता दुष्टा दोषघटितोपलभसामग्री-वाच्या,  
तस्यां सत्यामनुपलब्धिर्न किन्तूपलब्धिरेव स्यात्, अदृष्टे च सा योग्यता  
नास्तीति ॥ ३ ॥

नन्वात्मा किञ्चिदनभिन्नः स्वनिष्ठकर्तृत्वानिरूपकचित्तिको वा  
आत्मत्वादित्यत्राह ।

दृष्टसिद्धिः प्रसिद्धेऽंशे हेत्वसिद्धिरगोचरे ।

नान्या सामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा ॥४॥

प्रसिद्धे संसारर्यात्मनि पक्षे दृष्टसिद्धिः सिद्धसाधनम्, अगोचरे  
अज्ञाते ईश्वरे हेत्वसिद्धिः हेतोरज्ञानं, आत्मत्वेन सामान्यतः सिद्धः  
पक्षश्चेत् तत्राप्यस्मदादिस्तदितर आत्मा वा पक्ष इति विकल्पे सिद्ध-

रहिता इति पर्यवसितम्, अनयोरेकतरसत्त्वं एव प्रत्यक्षं जायते । शशशृङ्गस्य अलीकत्वेन  
तत्प्रत्यक्षसामग्री द्वितीया वाच्या तत्सत्त्वे च शशशृङ्गस्य प्रत्यक्षमेवेति न प्रत्यक्षाभावरूपानुप-  
लब्धिः, तदसत्त्वे च तत्स्वरूपा उक्तयोग्यतैव नास्ति इत्यलीकस्यैव योग्यतासहिता अनुपलब्धिः  
कादापि न सम्भवतीति, प्रतियोग्यप्रत्यक्षप्रतियोगिप्रकारकप्रत्यक्षम् अतीन्द्रियगगनादिप्रकारक-  
प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वात् तदुपलभसामग्री दोषघटिता वाच्या तथाच तादृशयोग्यतासत्त्वे अनुपलब्धिरेव  
नास्तीति न गगनाद्युच्छेदः इति ॥ ३ ॥

ईश्वरत्वेन ईश्वरं पक्षीकृत्य कर्तृत्वाभावानुमानस्य पक्षासिद्धिदोषदुष्टत्वेऽपि आत्मत्वेन  
आत्मनां सिद्धत्वात् तेषु असर्वज्ञत्वं चित्तादिकर्तृत्वाभावस्य साधयितुं शक्यत एवेत्याशङ्कते  
नन्वित्यादिना, किञ्चिदनभिन्नः असर्वज्ञ इत्यर्थः, न च परेषां मते सर्वज्ञत्वाप्रसिद्धेः  
अलीकाभावस्य प्रागेव निरस्तत्वाच्च कथं सर्वज्ञत्वाभावः साधयितुं शक्य इति वाच्यम् ।  
किञ्चिदनभिन्नपदेन स्ववृत्तिज्ञानविषयतानवच्छेदकधर्मकालस्य विवक्षितत्वात् । तथाच  
जीवात्मनां सकलधर्मावच्छिन्नविषयकज्ञानाभावात् यज्ञमावच्छिन्नविषयकज्ञानाभावः  
स्ववृत्तिज्ञानविषयतानवच्छेदकज्ञातद्वयधर्मकालम् अस्याद्वयमेव, नैयायिकमते ईश्वरज्ञानस्य  
सर्वधर्मावच्छिन्नविषयकत्वात् ईश्वरे स्ववृत्तिज्ञानविषयतानवच्छेदकधर्मकालं न सम्भवतीति  
भावः । स्वनिष्ठकर्तृत्वानिरूपकचित्तिकोवेति, तथाच जीवात्मनां योद्धव्यचित्तिकोवेति-



साधनं हेत्वसिद्धिर्वा । नन्वात्मत्वं जातिः पक्षस्तत्राह जातावपि तथैव  
 सेति । आत्मत्वं जातिर्न चित्तिकर्त्री इत्यत्रेष्टसिद्धिः सिद्धसाधनं,  
 हेतोश्च तत्रासत्त्वमिति हेत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

नन्वागमादिसिद्ध्यात्मनि अकर्तृत्वं साध्यं तत्राह ।

आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम् ।

आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥५॥

आगमादेः प्रमाणत्वे तत एव ईश्वरस्य कर्तृत्वादिसिद्धौ कर्तृ-  
 त्वाद्यभावसाधने बाधः । आगमादेरप्रमाणत्वे सैवाश्रयासिद्धिः उद्धृता  
 उल्कटा ॥ ५ ॥

भावः खनिष्ठकर्तृत्वानिरूपकतादृशचित्तिकत्वम् अव्याहृतमेव, नैयायिकमते ईश्वरस्य  
 सर्वचित्तिककर्तृत्वात् खनिष्ठकर्तृत्वानिरूपकचित्तिकत्वं न सम्भवतीति हृदयम् । हेतो-  
 रज्ञानमिति तथाच पञ्चवृत्तित्वेन हेतुज्ञानस्यानुमितिहेतुत्वात् पञ्चाज्ञाने विशेषणज्ञाना-  
 भावात् न पञ्चवृत्तित्वविशिष्टहेतुज्ञानमिति भावः । आत्मत्वेन सामान्यतः सिद्ध इति  
 तथाच जीवेश्वरसाधारणात्मत्वेन सामान्यरूपेण पक्षत्वान्न पक्षासिद्धिरिति भावः । एतदपि  
 विकल्प्य दूषयति तत्रेत्यादिना । कारिकायां नान्या सामान्यतः सिद्धिरिति न अत्र  
 अन्यादृशी सामान्यतः सामान्यरूपेण आत्मत्वेन सिद्धिः पक्षसिद्धिरित्यर्थः । जातावपी-  
 तीति । न च आत्मत्वं न सर्वज्ञ-सर्वकर्तृव्यक्तिसमवेतं जातित्वात् गोत्ववदित्यनुमानात् न  
 सिद्धसाधनं हेत्वसिद्धिर्वेति वाच्यम् । निषेध्यस्य सर्वज्ञ-सर्वकर्तृव्यक्तिसमवेतत्वस्याप्रसिद्धत्वात्  
 अलीकाभावस्य प्रागेव निरस्तत्वाच्च निषेधस्याशक्यत्वादिति ॥ ४ ॥

ईश्वरपक्षककर्तृत्वाभावानुमाने आगमजन्यशब्दात्मकपक्षसिद्धिसम्भवात् कथं पक्षा-  
 सिद्धिरित्याशङ्कते, नन्वित्यादिना । आगमादेरिति, न आगमादेर्धर्म्यं प्रमाणेऽपि न  
 सर्वज्ञत्वादिधर्मांशे प्रामाण्यमिति वाच्यम् । अविशेषात् उभयत्रैव प्रामाण्यसिद्धेरिति ।  
 अनिषेधनमिति न कर्तृत्वाद्यभावसाधनमित्यर्थः । आभासत्वे इति कारिकायां विव-  
 ष्यति, आगमादेरप्रमाणत्व इति, अप्रमाणत्वे प्रामाण्यकत्वाभावे, उल्कटेति सम्भवती-  
 त्यर्थः ॥ ५ ॥



अत्र चार्वाकाः योग्यताविशेषणेन किं, यन्न प्रत्यक्षं तन्नास्ति इत्यनुपलब्धिमात्रमेव बाधकं स्यात्, अनुमानविलोपश्चेष्ट एव धूम-दर्शनानन्तरं वज्रार्थप्रवृत्तिश्च सम्भावनामात्रादिति तत्राह ।

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहोभावाभावविनिश्चयात् ।

अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥ ६ ॥

सम्भावना हि सन्देहः, स च दृष्टौ नास्ति तस्य निश्चयात्, अदृष्टौ च नास्ति अनुपलब्धौ तदभावस्यैव निर्णयात् । एवमदृष्ट्या अनुपलब्ध्या, हेतौ प्रत्यक्षकारणे चक्षुरादौ बाधिते सति प्रत्यक्षमपि प्रमाणं न स्यात्, अनुपलब्धिकालेऽपि तस्य सत्त्वे तु व्यभिचारात् नानुपलब्धिरभावावधारणे हेतुः । एवञ्च गृहान्निर्गतचार्वाकः

योग्यताविशेषणेन किमित्यस्य अनुपलब्धेरित्यादिः, अनुपलब्धिमात्रमिति मावपदेन योग्यतादिसङ्गकारिताव्यवच्छेदः । बाधकमिति अभाववाचकमित्यर्थः, ननु प्रत्यक्षा-विषयपदार्थबोधार्थम् अनुमानस्यावश्यकत्वं, यदि “यदप्रत्यक्षम् तन्नास्ति” इति चार्वाक-सिद्धान्तात् प्रत्यक्षाविषयपदार्थस्यासत्त्वं तदा अनुमानमफलं स्यादित्यचेष्टापत्तिनाह, अनुमानविलोपयेति । नन्वनुमानविलोपे धूमदर्शनानन्तरं वज्रमनुमाय वज्रार्थं प्रवर्तते तत्र स्यात् इत्यत्र आह धूमदर्शनानन्तरमिति, सम्भावनामात्रादिति संशयमात्रादित्यर्थः, तथाच वज्रि सन्दिहानः सन् वज्रार्थं पर्वतादौ प्रवर्तते इति भावः । न सन्देह इति तथाच भवत्येते संशयस्थालीकतया ‘प्रवृत्तिश्च सम्भावनामात्रान्’ इत्यसङ्गतं स्यादिति भावः । दृष्ट्यदृष्ट्योरिति सप्तमीद्विवचनान्न, दृष्टिः वज्रादौ चक्षुरादिसन्निकर्षः, तत्-सत्त्वे भावस्य वज्रादेर्निर्णयः, अदृष्टिः वज्रादौ चक्षुरादिसन्निकर्षाभावः तत्काले वज्राद्यानुपलब्ध्या अभावस्य वज्राद्यभावस्य सिद्धिरिति न वज्रिसम्भावनेत्यर्थः । अदृष्टि-बाधिते हेताविति हेतौ प्रत्यक्षहेतौ गोलकादौ अदृष्ट्या अनुपलब्ध्या बाधिते अभाव-प्रतियोगितया निर्णीत इत्यर्थः । प्रत्यक्षमपि प्रमाणं न स्यादिति प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् इति चार्वाकसिद्धान्तव्याघातः स्यात् इत्यर्थः । नानुपलब्धिरिति नानुपलब्धिमात्रमित्यर्थः । एवञ्चेति अनुपलब्धिमात्रसम्भावनिर्णयहेतुत्वे चेत्यर्थः । विक्रोशेदिति, न च गृहान्नि-  
CC-0- Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri



पुत्र-दाराद्यभावादिकमवधार्य विक्रोशेत् परावृत्तोऽपि कुटुम्बं  
नासादयेत् तदा तेषां सत्त्वे चानुपलब्धिर्व्यभिचारिणी न हेतुः  
स्यादिति ॥ ६ ॥

ननु यद्यनुपलम्भमात्रं नाभावसाधकं तदा अयोग्योपाधिशङ्कया  
धूमादावपि व्यभिचारशङ्कया न व्याप्तिनिश्चयः स्यादिति गतमनु-  
मानेनेत्यत्राह ।

शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।

व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥ ७ ॥

तद्देश-तत्कालयोर्व्यभिचाराभावनियथात् कालान्तरस्थ-देशान्तर-  
स्थयोर्व्यभिचारशङ्का स्यात् कालान्तर-देशान्तरस्थज्ञानञ्चानुमाना-  
देवेति सिद्धमनुमानम् । शङ्का न चेत्, ततः शङ्काविरहे तरां सुतरा-  
मनुमानम् । ननु किं शङ्कानिवर्तकं तत्राह, तर्कः शङ्कावधिर्मत इति ।

गमने तत्तदधिकरणानाम् असन्निकटत्वात् कथं पुत्राद्यभावनियथः सन्निकटदेशे अभाव-  
नियथेऽपि ध्वंसानियथात्र शोकः स्यादिति वाच्यम् । अधिकरणज्ञानमात्रम् अभावधी-  
हेतुः न तु तदिन्द्रियसन्निकर्षोऽपि इति चार्वाकसिद्धान्तमाश्रित्य तस्योक्तत्वात् । अत-  
एव तेषां मते तत्तदधिकरणासन्निकर्षेऽपि देवताद्यभावो गृह्यत इति । न च पुत्रादेः तदानीं  
अरणात् न विक्रोश इति वाच्यम् । पुत्रादिधारणसं तदभावगृहे अनुकूलत्वेन प्रतिकूलत्वाभावात्  
प्रतियोगिज्ञानस्य अभावधीहेतुत्वादिति ॥ ६ ॥

योग्यानुपलब्धेरभावग्राहकत्वे योग्यानामुपाधीनां योग्यानुपलब्ध्या अभावनिर्णये-  
ऽपि अयोग्यानाम् उपाधीनाम् अभावनिर्णायकाभावात् हेतौ संशयेन व्यभिचारसंशयात्  
व्याप्तिनियमाभावेन अनुमानविलोपः स्यादिति चार्वाकः शङ्कते नन्वित्यादिना, अनुप-  
लम्भभावमिति तथाच अस्मन्मते अनुपलब्धिमात्रस्याभावनिर्णायकत्वात् अयोग्योपाधेरनुप-  
लब्ध्या अभावनियमेन संशयासम्भवात् न व्याप्तिनिययासम्भव इति नानुमानविलोप-  
इति भावः । व्यभिचारशङ्कया न व्याप्तिनियथ इति, प्रत्यक्षनियथे यास्यसंशयस्य प्रति-  
बन्धकत्वमतेनेदमुक्तम् । शङ्कावधिरिति शङ्काया अवधिः सीमा निवर्तक इति यावत्



विपक्षबाधकतर्काच्छङ्काविरहो मतः सम्मत इत्यर्थः । ननु तर्क-  
स्यापि व्याप्तिमूलकत्वेऽनवस्थेत्यत्राह, व्याघातेत्यादि । तर्कमूल-  
व्याप्तौ न शङ्का व्याघातात् । क्लृप्तकारणं विना कार्योत्पत्ति-  
शङ्कायां दृश्यर्थं भोजनादौ परप्रतिपत्त्यर्थञ्च शब्दप्रयोगादौ न प्रवर्त्त-  
तेति । एवञ्च तर्कानवतारे शङ्कितोपाधिरवाप्रयोजक इत्युच्यते ।  
तदुक्तं “यावच्चाव्यतिरेकित्वं शतांशेनापि शङ्कते । विपक्षस्य कुत-  
स्तावद्धेतोर्गमनिका बलम्” । विपक्षस्य विपक्षे हेतोरव्यतिरेकित्वं  
सत्त्वं यावच्छङ्कते तावद्धेतोर्न गमकत्वमिति भावः । व्यभिचारशङ्का

विपक्षबाधकतर्कादिति विपक्षे व्यभिचारग्रहे बाधकात् प्रतिबन्धकात् तर्कादित्यर्थः,  
स च तर्कः धूमो यदि वज्रिव्यभिचारी स्यात् वज्रिजन्यो न स्यादित्यादिरूपः । न च  
तर्कस्य विरोधिविषयकत्वाभावेन कथं व्यभिचारग्रहस्य प्रतिबन्धकत्वमिति वाच्यम् ।  
फलबलेन तद्विशिष्टबुद्धिं प्रति तदापादककतर्कत्वेन प्रतिबन्धकत्वस्य कल्पनीयत्वात् ।  
ननु यत्र तर्केण शङ्कानिवृत्तिः तत्रानवस्था तर्कमूलीभूतव्याप्तिज्ञाने शङ्कानिवृत्तये तर्का-  
न्तरस्य एवं तन्मूलभूतव्याप्तिज्ञानेऽप्यपरस्य अपेक्षणीयत्वादित्याशङ्कते ननु तर्कस्थेत्यादिना,  
व्याप्तिमूलकत्वेन आपादकनिष्ठापाद्यव्याप्तिग्रहजन्यत्वेनेत्यर्थः, व्याघातादिति तर्काभावाति-  
रिक्ताकारणप्रतियोगिकाभावादित्यर्थः, तर्काभावातिरिक्तं संशयकारणञ्च संशयजनको  
दोषः संशयप्रतिबन्धकाद्यभावश्च । मूले व्याघातावधिरिति व्याघातः अवधिः सीमा  
यस्याः तथाभूता, व्याघातप्रतिबन्धेति यावत् । अतएवोक्तमुपाध्यायैः “यावदाशङ्कं  
तर्कानुसरणात् यत्र च व्याघातेन शङ्कैव नावतरति तत्र तर्कं विनैव व्याप्तिग्रहः” इति ।  
यत्तर्कपूर्वं तर्हिषट्कशङ्कायास्तर्काभावेतरसकलकारणसम्पत्तिः तत्तर्कपूर्वमेव तर्कान्तरा-  
पेक्षा यत्तर्कपूर्वं तर्काभावातिरिक्ताकारणप्रयोगिकाभावरूपव्याघातेन शङ्कैव नावतरति  
तत्र तर्को तर्कं विनैव व्याप्तिग्रह इति उपाध्यायसन्दर्भस्य समुदितताव्यर्थम् । क्लृप्त-  
कारणं विना कार्योत्पत्तौ दृष्टावर्थं भोजनादौ प्रवृत्तिर्न स्यादित्याह, क्लृप्तकारणं  
विनिति गृहीतान्वय-व्यतिरेकं हेतुं विनेत्यर्थः । परप्रतिपत्त्यर्थञ्चेति परकीयशब्द-  
बोधाशङ्केत्यर्थः । एवंचेति तर्कस्य शङ्कानिवर्त्तकत्वे चेत्यर्थः, अप्रयोजकः अननुमापक-  
इत्यर्थः, यावच्चाव्यतिरेकित्वमिति विपक्षस्य विपक्षे हेतोः अव्यतिरेकित्वं सत्त्वं शतांशे-



च उपाधिशङ्काधीना । तदुक्तम् “अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुप-  
जीवकाः । तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशवधारणा” इति ॥ अन्ये  
केचन हेतवः परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवका आश्रयाः, तथाहि  
उपाध्यवच्छिन्नहेतुनिष्ठा व्याप्तिः हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुवृत्तितया  
ज्ञायते, अत एव उप समीपवर्तिनि स्वसमानाधिकरणे स्वधर्मं  
व्याप्तिम् आदधाति बोधयतीति उपाधिशब्दोजवाकुसुमादिसाधारणः,  
तैः सोपाधिभिर्दृष्टैरपि पक्षे व्यापकांशस्यावधारणा निश्चयो नेष्यते  
साधारणधर्मेण साध्यसंशयजननादित्यर्थः ॥ ७ ॥

नापि यावच्छङ्कते अनुत्कटापि शङ्का यावत् स्यात् तावत् गगनिकावलं गमकत्वसामर्थ्ये  
कुन इति समुद्दितायः । नन्वेतेन सन्दिग्धानैकान्तिकस्य अप्रयोजकत्वमुक्तं न तु  
सन्दिग्धीपाधेरित्यसङ्गतिरित्यत आह व्यभिचारशङ्का चेति । तथाच व्यभिचारसंशयस्या-  
प्रयोजकत्वकथनेन तत्कारणीभूतस्य उपाधिसंशयस्याप्रयोजकत्वमर्थवशसम्पन्नमिति भावः ।  
अत्र ह्यसम्पत्तिमाह तदुक्तमिति, केचन हेतव इति सोपाधयो हेतव इत्यर्थः, परप्रयु-  
क्तानाम् उपाधिप्रयुक्तानामित्यर्थः । तदेव स्फुटयति तथाहीत्यादि, हेतुतावच्छेदका-  
वच्छिन्नहेतुवृत्तितया ज्ञायत इति, एतेन यादृशधर्मावच्छिन्ने हेतौ उपाधिमत्त्वं तादृश-  
धर्मावच्छिन्ने हेतौ उपाध्यवच्छिन्नहेतुनिष्ठव्याप्तिर्ज्ञायते न स्वातन्त्र्येण तत्र व्याप्तिरिति  
किन्तु व्यभिचारित्वमस्यैव तथा हि यादृशयादृशधर्मावच्छिन्ने उपाधिमत्त्वं तादृशतादृश-  
धर्मावच्छिन्ने व्यभिचारित्वं इत्युपाधेः व्यभिचारव्याप्यत्वं सूचितं, तथाच व्याप्यसंशयस्य  
व्यापकसंशये प्रति पृथक् कारणत्वात् व्यभिचारसंशयस्य उपाधिसंशयाधीनत्वं सिद्ध-  
मिति न प्रकृते काचिदसङ्गतिरिति विभावनीयम् । एतस्मिन् साध्यसमव्यापकस्य उपा-  
धित्वं तेन सर्वत्र व्यभिचारिणि हेतावुपाध्यवच्छिन्नव्याप्तिसम्भवः, विषमव्यापकस्योपा-  
धित्वव्यवहारो व्यभिचारोन्नायकत्वसाध्येन गौण्या समर्थनीय इति । अतएवेति उपाधेः  
स्वधर्मव्याप्यारोपकत्वादिवैयर्थ्यः, स्वधर्मव्याप्तिं स्वावच्छिन्नव्याप्तिं, बोधयति अन्यधर्ममावा-  
वच्छिन्नवृत्तितया बोधयति । जवाकुसुमादिसाधारण इति, तथाच यस्य धर्मोऽन्यत्र  
भासते स एवोपाधिपदवाच्यः यथा जवाकुसुमलौहित्यस्य स्फटिके भासनात् जवाकुसुमं  
स्फटिके उपाधिः, तथा यन्निष्ठा व्याप्तिः साधनत्वाभिमाने भासते सधर्मस्त्वहेतावुपाधि-



ननुपमानमीश्वरे बाधकं स्यात्, अत्रोपमानस्यातिरिक्तप्रमाणस्या-  
नभ्युपगमात् न बाधकमिति वैशेषिकादयः । तत्र सादृश्यस्य पदार्था-  
न्तरस्य ग्राहकमुपमानमिति केचित्, सादृश्यं न द्रव्यं गुणः कर्म वा  
गुणसमवेतत्वात्, न सामान्यं सप्रतियोगिकत्वात् सामान्यादिवृत्ति-  
त्वाच्च, नाभावः सप्रतियोगिकत्वेनाप्रत्ययात् । तच्च न प्रत्यक्षगम्य-  
मिन्द्रियपातमात्रेणाप्रतीतेः । नापि प्रतियोगिज्ञानसहकृतमिन्द्रियं  
ग्राहकमिति वाच्यं, गोसदृशोगवय इति ज्ञानानन्तरं सा गौर्गवय-  
सदृशीत्यसन्निकृष्टगोविशेष्यकग्रहस्याप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानगम्यं  
लिङ्गाप्रतिसन्धानेऽपि ज्ञायमानत्वात्, न शब्दगम्यं तस्यासार्वत्रिक-  
त्वादिति तत्राह,—

रिति उपाधिपदसामर्थ्यत्वं प्रतिपादितमिति भावः । ननु हेतोः सोपाधित्वगहेऽपि  
यदि व्याप्तिग्रहस्तदा पक्षे तादृशहेतुमत्त्वग्रहानन्तरं कथं न साध्यानुमितिरित्यत आह,  
तैः सोपाधिभिर्दृष्टैरपीति, तथाच व्यभिचारित्वसम्बन्धेन उपाधिविशिष्टहेतोः साध्या-  
व्यापकोपाधेर्व्यभिचारित्वनिश्चये व्याप्यस्य साध्यास्यापि व्यभिचारनिश्चयात् न साध्यानु-  
मितिः, किन्तु साध्यसंशय एव, एतदेवोक्तं साधारणधर्मणेत्यादि । न च साध्यव्यभि-  
चारज्ञानस्य साध्याभावसहचरित्वज्ञानरूपत्वेऽपि साध्यसहचारज्ञानात्मकत्वात् कथं  
साधारणधर्मज्ञानेन साध्यसंशय इति वाच्यम् । एतन्मते साध्यसहचरित्वे सति साध्या-  
भावसहचरित्वस्य व्यभिचारपदार्थत्वात् ॥ ७ ॥

उपमानस्यैव पदार्थसाधकत्वम् इत्यभिमानेन शङ्कते नन्वित्यादिना, बाधकमिति,  
तथाच ईश्वरे कस्यचित् सादृश्याभावात् न पदार्थत्वमिति भावः । प्रयोगस्तु ईश्वरेति  
पदं न किञ्चिदर्थवाचकं किञ्चित्सदृशावाचकत्वादित्येवं रूपः । अत्र वैशेषिकसमाधान-  
माह अत्रेत्यादिना वैशेषिकादय इत्यन्तेन, न बाधकत्वमिति तथाच उपमानस्य अनु-  
मानगतार्थत्वेन अनुमानातिरिक्तप्रमाणत्वामावात् नेश्वरबाधकत्वमिति भावः । सादृश्य-  
मतिरिक्तपदार्थः तत्साधकमेवोपमानं प्रमाणांतरमिति सोमांसकमतमुत्थापयति तत्रे-  
त्यादिना केचिदित्यन्तेन, सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वे युक्तिमाह सादृश्यमिति । सप्रति-  
योगिकत्वादिति ससम्बन्धिकत्वात् सम्बन्धिरुपपेक्षग्रहकत्वादिति यावत् । सप्रति-



परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।

नैकतापि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥ ८ ॥

न प्रकारान्तरस्थितिः न नोभयात्मकत्वं, हि यतः परस्परविरोधात्, नैकतापि न भावाभावात्मकत्वमपि, विरुद्धानामिति हेतुगर्भ-विशेषणं परस्परविरोधिरूपत्वात् । विरोधमेव प्रतिपादयति उक्ति-मात्रविरोधतः । नाभाव इत्युक्ते च भावत्वप्रतीतिः कथमभावता, न भावइत्युक्ते चाभावत्वप्रतीतेर्न भावत्वम् । अयमभिप्रायः सादृश्यं भावोऽभावोवा उभयकोट्यतिरिक्तस्याप्रसिद्धेः, अभावत्वे सप्तम-पदार्थत्वं, भावत्वे च गुणवत्त्वे द्रव्यत्वं निर्गुणत्वे सामान्यवत्त्वे च गुणान्यत्वे कर्मत्वं तदन्यत्वे गुणत्वं निर्गुणनिःसामान्यभावत्वेऽसम-

योगिकत्वेनाप्रत्ययादिति विवक्ष्यप्रतियोगितानिरूपितानुयोगित्वेन नवा प्रतीत्य-विषयत्वादित्यर्थः । प्रतियोगिज्ञानसद्वृत्तमिति सत्त्वन्विज्ञानसद्वृत्तमित्यर्थः । अप्रत्यक्ष-त्वादिति तथाच गवयधर्मिकगोसादृश्यज्ञानस्य उपमानफलत्वाभावेऽपि गोप्रतियोगिक-गवयनिष्ठसादृश्यज्ञानकारणक-गवयप्रतियोगिकगोनिष्ठसादृश्यज्ञानस्य असन्निकटगोविशे-ष्यकत्वात् उपमानफलत्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यमिति भावः । तत्राहिति वैशेषिक इति शेषः । भावाभावातिरिक्तपदार्थस्याप्रसिद्धत्वात् तादृश्याय न भावभिन्नत्वे सति अभाव-भिन्नत्वं, न वा भावाभावात्मकत्वम्, अपि तु भावाभावान्यंतरत्वेनेति सिद्धान्तं मनसि-कृत्वाह, परस्परविरोधे हीति, हि यतः परस्परविरोधे सति भावभिन्नत्वाभावभिन्नत्वयोः मिथः सद्भावस्थानविरोधे सति न प्रकारान्तरस्थितिः न प्रकारान्तरस्य भावाभावाति-रिक्तपदार्थस्य स्थितिः संभवः । सादृश्यस्य भावाभावात्मकत्वमपि न संभवतीत्याह नैकतापीति, विरुद्धानामिति मिथोविरुद्धानामित्यर्थः, अत्र हेतुमाह उक्तिमात्रेति, इति यथाश्रुतकारिकार्थः । व्याख्यायां नोभयात्मकत्वमिति उभयात्मकत्वमित्यर्थः भावभिन्नत्वे सति अभावभिन्नत्वमिति यावत्, परस्परविरोधादिति परस्परभावव्याप्यत्वादित्यर्थः तथाच भावभिन्नत्वस्य अभावभिन्नत्वाभावव्याप्यत्वम्, अभावभिन्नत्वस्य भावभिन्नत्वाभावव्याप्यत्वं न तु भावभिन्नत्वाभावभिन्नत्वयोः मिथः सामानाधिकरण्यमिति भावः । परस्परविरोधि-



वेतत्वे च समवायत्वं समवेतत्वे च अनेकान्वितत्वे सामान्यत्वं एका-  
न्वितत्वे विशेषत्वम् । एवं शक्ति-संख्यादयोऽपि पदार्था निरा-  
कार्याः ॥ ८ ॥

ननु भवतु सादृश्यं समानधर्मैव तदग्राहकमेवोपमानं मानान्तरं  
स्यादित्यत्राह,—

साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।

अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम् ॥ ९ ॥

अयं गोविसदृश इति ज्ञानानन्तरं सा गौरितद्विसदृशीति धीः  
प्रमाणान्तरादेवास्तु । अथैतस्य तद्वैधर्म्यं तस्मिन्नेतद्वैधर्म्यं विनाऽनुप-  
पन्नमित्यर्थापत्तिरेवेति, गोसादृश्यं गवयस्य गोर्गवयसादृश्यं विना-  
ऽनुपपन्नमित्यर्थापत्तिरेवेति न मानान्तरं सदृश्यग्राहकं मन्तव्य-  
मिति ॥ ९ ॥

रूपत्वादिति भावत्वाभावत्वयोः निधो विरोधित्वादित्यर्थः । तथाच सादृश्यस्याविरिक्त-  
पदार्थत्वाभावात् न तदग्राहकस्य उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वमिति भावः । एवमिति  
उक्तरीत्येत्यर्थः । शक्ति-संख्यादयोऽपीति आदिना पृथक्त्वस्य परिग्रहः । एतत् दृष्टान्त-  
विधयोक्ता, यथा सीमांसकैः अतिरिक्तपदार्थत्वेनाभ्युपगतानामपि शक्ति-संख्या-पृथक्त्वानां  
नैयायिकादिमते सप्तपदार्थान्तर्गतत्वं तथा सादृश्यस्यापीति समुदिततात्यर्थम् । न च  
संख्या-पृथक्त्वयोरतिरिक्तपदार्थत्वाभावे गुणस्य निर्गुणत्वात् कथम् एकं रूपं रूपं रसात्  
पृथक् इतिप्रतीतिः प्रामाण्यमिति वाच्यम् । गुणादिनिष्ठसंख्या-पृथक्त्वयोः धीविशेष-  
विषयत्वरूपत्वात् इति न काचिदनुपपत्तिः ॥ ८ ॥

नन्वतिरिक्तपदार्थग्राहकत्वेन उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वासिद्धावपि कृमिपदार्थग्राह-  
कत्वेनैव उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं स्यादित्याशङ्कते नन्वित्यादिना, साधर्म्यग्राहकस्य  
प्रमाणान्तरत्वे तुल्ययुक्त्या वैधर्म्यग्राहकस्यापि प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति प्रतिवन्धिसुखेन  
वैशेषिकसाम्यतं दूषयति साधर्म्यमिवेति साधर्म्यमिव साधर्म्यग्राहकमानान्तरमिव, वैधर्म्यं  
वैधर्म्यग्राहकं, मानमेवं प्रसज्यते एवं मानान्तरं स्यादित्यर्थः । अर्थापत्तिरसाधित्यादि



वैशेषिकादिभिरुपमाने दूषिते नैयायिकः प्राह,—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।

प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥ १० ॥

फलमित्यनन्तरं इतीत्यध्याहार्यं, संज्ञायां गवयादिसंज्ञायाः संज्ञिना गवयत्वादिविशिष्टेव सह, सम्बन्धस्य शक्तेः, परिच्छेदः निश्चयः, उपमानस्य मानान्तरस्य फलमुपमितिः, प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् इन्द्रिय-लिङ्ग-शब्दानामसामर्थ्यात् ॥ १० ॥

ननु गोसदृशगवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यादेव शक्तिधीरस्तु, गवयत्वविशिष्टोधर्मी गवयपदवाच्यगोसदृशत्वादित्यनुमानाद्वास्तु तत्राह,—

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः ।

समयोदुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा ॥ ११ ॥

समयः गवयत्वादिजातिपुरस्कारेण शक्तिरूपसम्बन्धः, स च

वैधर्म्यग्राहकमानस्य अर्थापत्तित्वम् इति व्यक्तम्, इति सुग्रहं चेत्, प्रकृतं न किमिति प्रकृतस्य साधर्म्यग्राहकमानस्य कथं नार्थापत्तित्वमित्यर्थः ॥ ९ ॥

सादृश्यज्ञानं नोपमानफलमपि तु शक्तिनिर्णय एव इति नैयायिकसिद्धान्तमाह, वैशेषिकादिभिरिति । इन्द्रिय-लिङ्ग-शब्दानामसामर्थ्यादिति, तथाच शक्तिपरिच्छेदस्य इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपत्वे अस्तुतातिदेशवाक्यस्यापि शक्तियहप्रसङ्गः अतिदेशवाक्यार्थज्ञानस्य प्रत्यक्षं प्रत्यहेतुत्वात् इति यादृशमिति विशेषे अतिदेशवाक्यार्थज्ञानमवश्यमपेक्षणीयं तादृशमित्यन्तरम् अकामेनाप्यङ्गीकार्यं तादृशमित्यन्तरकरणञ्च उपमानम् अत उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं सिद्धमिति भावः । लिङ्ग-शब्दयोरसामर्थ्यञ्च अनुपदं वक्ष्यते इति ॥ १० ॥

लिङ्ग-शब्दयोः सामर्थ्यमाशङ्क्य निरस्यति नन्वित्यादिना, मूले सादृश्यस्यानिमित्तत्वादिति सादृश्यस्य अनिमित्तत्वात् अप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् निमित्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य गवयत्वस्य अप्रतीतितः अग्राह्यत्वात् पूर्वं समयः गवयत्वविशिष्टे गवयपदस्य शक्तिरूपसम्बन्धः शब्देन



दुर्ग्रहः, शब्दादनुमानद्वा न सम्भवति, गवयत्वस्य तेन पुंसा अगृहीतत्वात् । न च सादृश्यमेव प्रवृत्तिनिमित्ततया गृह्यतां, तस्य गुरुत्वेनाप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ॥ ११ ॥

ननु प्रथमतोगवयत्वस्याप्रतीतत्वेऽपि यदा गवयत्वं प्रत्यक्षं तदा गोसदृशोगवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्याल्लक्षणा गवयत्वपरात् तेन रूपेण शक्तिधीरसु तत्राह,—

श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।

पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ॥ १२ ॥

गोसादृश्यसामानाधिकरण्येन गवयपदवाच्यत्वविषयकज्ञानजनकतया शब्दस्य गवयत्वादिना शक्तिबोधे नाकाङ्क्षा अन्वयस्य पर्यवसानात्, यत्र पदार्था एवान्वयविधुराः केनापि रूपेणान्वयायोग्याः तदाक्षिप्तेन तेन लक्षणीयार्थेन सङ्गतिरन्वयः, यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ ॥

अतिदेशवाक्येन अनुमानेन वा दुर्ग्रहः गृहीतुमशक्यः इति कारिकायाः । टीकायां शब्दादनुमानाहेति, तथाच गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यात् गोसादृश्यविशिष्टे गवयपदवाच्यत्वेऽपि शक्यतावच्छेदकौभूतगवयत्वविशिष्टे सादृश्यवाक्यात् गवयपदवाच्यत्वगहासम्भवात् शब्दस्वसामर्थ्ये, गवयत्वविशिष्टे गवयपदवाच्यत्वानुमितेः पूर्वे गवयत्वविशिष्टे परामर्शस्यापेक्षणीयत्वात् गवयत्वविशिष्टानुपस्थितौ तदसम्भवात् अनुमानस्यासामर्थ्यमिति भावः ॥ ११ ॥

ननु यदा गवयत्वविशिष्टपिण्डप्रत्यक्षं तदा लाघवप्रतिसम्बन्धेन गवयत्वे प्रवृत्तिनिमित्तत्वनिश्चयेन तत्रातिदेशवाक्यतात्पर्यनिश्चयात् सादृश्यवाक्यघटकगोसदृश्यपदलक्षणा गवयत्वविशिष्टे शक्तिगृहः सम्भवतीति कथमुपमानस्य प्रमाणात्तरत्वमित्याशङ्कते नन्वित्यादिना गवयत्वपरादिति गवयत्वतात्पर्यकसदृश्यपदघटितादित्यर्थः, अत्र सदृश्यपदमेव गवयत्वलक्षकं न तु गोसदृश्यपदं, तस्य वाक्यत्वात् वाक्ये लक्षणाविरहात् गोपदन्तु तात्पर्यग्राहकमिति हृदयम् । श्रुतान्वयादिति शक्यान्वये पर्यवसानात्, अनाकाङ्क्षम् अशक्यान्वये आकाङ्क्षा-



ननु गवयपदं सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वादिति सामान्यतो-  
दृष्टमनुमानमितरप्रवृत्तिनिमित्तकत्वबाधे गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्त-  
त्वमवगाहतामिति चेन्न, व्यापकतावच्छेदकरूपेणैवानुमितेर्यापक-  
विषयकत्वात् । गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् इतराप्रवृत्ति-  
निमित्तकत्वे सति सप्रवृत्तिनिमित्तकत्वादिति व्यतिरेकि च साध्या-  
प्रसिद्धा न सम्भवति, व्यतिरेकव्याप्त्यप्रतिसम्भानेऽपि गवयत्वाश्रयो-  
गवयपदवाच्य इति धियोऽनुभवसिद्धत्वाच्च उपमानं प्रमाणान्तरम् ।  
एवं धिक्करभमतदीर्घग्रीवमतिकठोरकण्टकाशिनमपसदं पशूना-  
मित्यादिवाक्यार्थज्ञानानन्तरं तादृशपिण्डदर्शने करभपदवाच्यताग्रहो-  
ऽप्युपमानादेवेति । उपानन्तु शक्तिमात्रपरिच्छेदकतया नेश्वरे बाधक-  
मिति भावः ॥ १२ ॥

रहितं वाक्यं गोसदृशो गवयपदवाच्य इत्यतिदेशवाक्यं न अन्यत् इच्छति न लक्ष्यार्थं  
बोधयति इति कारिकापूर्वाहंस्वार्थः । टीकायां गोसादृश्यसामानाधिकरण्येनेति सामा-  
नाधिकरण्यपदेन गोसादृश्यस्य उपलक्षणत्वं न तु प्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति सूचितम् । जनक-  
तया फलोपधायकतया इत्यर्थः, तथाच गोसादृश्यावच्छिन्नविशेष्यकगवयपदवाच्यत्वप्रका-  
रकशब्दबोधस्यैव गवयत्वविशिष्टे गवयपदवाच्यत्वविषयकबोधतात्पर्यग्राहकत्वम् अनायत्यां  
अवश्यमभ्युपेयं, तथाच पूर्वं तादृशबोधाभावे तात्पर्यगृह एव न सम्भवतीति भावः । शब्दस्य  
प्रागुक्तातिदेशवाक्यस्य, नाकाङ्क्षेति, अजनिततात्पर्यविषयान्वयबोधत्वस्य आकाङ्क्षारूपत्वा-  
दिति भावः । ननु तर्हि कुत्र लाक्षणिकं पदम् अनुभावकम् इत्यत आह सूत्रे पदार्था-  
न्वयवैधुर्यादिति, अस्मैव विवरणं टीकायां यत्र पदार्था एवेति । अन्यदृष्टान्ताभादे-  
नान्वयव्याप्तिग्राह्यसम्भवात् व्यतिरेकि चेति व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानश्चेत्यर्थः, साध्याप्रसिद्धा  
साध्यानुपस्थित्या, न सम्भवतीति, ननु यत्पदं यदितराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति सप्रवृत्ति-  
निमित्तकं तत् तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम् इति सामान्यव्याप्तिगृहे गवयत्वेतराप्रवृत्तिनिमि-  
त्तकत्वविशिष्टसप्रवृत्तिनिमित्तकत्वव्यतिरेकविषयहेतुमत्तया पचधर्मताज्ज्ञानात् अप्रसिद्धमपि  
गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमनुमितौ विधेयतया भासते यत्तत्पददृष्टिसामान्यव्याप्ता  
अनुमाने विधेय साध्याप्रसिद्धेरनङ्गत्वादित्यत आह व्यतिरेकव्याप्ताप्रतिसम्भानेऽपीति



शब्दसु नेखरे बाधकत्वेन शङ्कनीयः अनुमानानतिरेकात्  
इति वैशेषिकाः, पदश्रवणानन्तरं पदार्थस्मरणे एते पदार्थाः  
परस्परं संसर्गवन्तः आकाङ्क्षा-योग्यतासत्तिमत्पदस्मारितत्वात् दण्डेन

व्याप्तिसामान्यायहेऽपीत्यर्थः । अतएव केनाप्यन्येनानुमानेन उपमानस्य न गतार्थत्वं,  
व्याप्तिसामान्यायहे अनुमानासम्भवात् । सादृश्यज्ञानमिव असाधारणधर्मदर्शनमप्युपमानमित्याह  
धिक्रममिति, अपसदमिति अपकृष्टमित्यर्थः । तादृशपिण्डदर्शने दीर्घगोवादिशुक्लशरीरदर्शने,  
करभपदेति उद्बलविशिष्ट इत्यादिः, उपसंहरति उपमानत्विति, शक्तिमात्रेति मात्रपदेन  
उपमानस्य पदार्थसाधकत्वव्यवच्छेदः, तथाच ईश्वरस्य किञ्चित्सादृश्याभावेऽपि उपमानस्य  
ईश्वरबाधकत्वमिति भावः ॥ १२ ॥

ननु उपमानस्य शक्तिमात्रनिर्णायकत्वेन ईश्वरबाधकत्वेऽपि शब्दस्य ईश्वरबाधकत्वं  
स्यादित्याशङ्क्यां वैशेषिकसमाधानमाह शब्दत्विति, अनुमानानतिरेकादिति, यद्यपि  
शब्दस्य ईश्वरबाधकत्वे अनुमानानतिरेकित्वं न तन्मन् अनुमानात्मकस्यैव ईश्वरबाधकत्व-  
सम्भवात् तथापि कानुमानमनाश्रयमित्यनेन अनुमानस्य ईश्वरबाधकत्वनिरासेनैव अनु-  
मानात्मकशब्दस्य ईश्वरबाधकत्वमपि निरस्तमित्यर्थः । पदार्थस्मरण इति योग्यता-  
ज्ञानादीनामप्युपलक्षकम्, अन्यथा योग्यतादीनामयहे पदार्थस्मृतिमात्रात् अन्ययोधा-  
पत्तिः । न च परस्परं संसर्गवन्त इत्यत्र परस्परसंसर्गपदम् अननुगतार्थकत्वात् यदि  
प्रकृतपदार्थसंसर्गपरम्, एवम् आकाङ्क्षापदस्य तत्तत्पदघटिताकाङ्क्षापरत्वात् यदि प्रकृत-  
पदघटिताकाङ्क्षापरत्वं तर्हि दण्डेन नामभ्याजिति दृष्टान्तासम्भव इति वाच्यम् । यत्तत्-  
पदघटितसामान्यव्याप्तौ तात्पर्यात् । तथाहि यत् यत्सम्बन्धेन यत्पदार्थान्वयप्रयोजक-  
रूपवत् सति तत्सम्बन्धेन तत्पदार्थप्रकारतानिरूपित-यत्पदाव्यवहितयत्पदप्रयोज्यबोधीय-  
विशेष्यत्वेन ओक्त्रिच्छाविषयत्वे च सति यत्कात्वीन तद्विशेष्यक-तत्सम्बन्धसंसर्गक-तत्पदार्थ-  
प्रकारकबोधेच्छोच्छरितेन पदेन वृत्त्या तत्पदार्थस्मारकयत्पदाव्यवहितयत्पदेन वृत्त्या  
स्मारितं भवति तत् तत्पदार्थस्मारकतत्पदाव्यवहिततत्पदार्थस्मारकतत्पदप्रयोज-  
कतत्कात्वीनवक्त्रिच्छाविषय-तत्पदाव्यवहित-तत्पदाधीनशब्दबोधीय-तद्विशेष्यतानिरूपिततत्-संसर्गा-  
वच्छिन्नप्रकारत्वेन ओक्त्रिच्छाविषयतत्पदार्थवत् भवति इत्यनुमानं बोध्यम् । अत्र  
हेतुशरीरे तत्पदार्थं तत्संसर्गेण तत्पदार्थवत्त्वरूपयोग्यतानिवेशे सिद्धसाधनं स्यात्  
अतः अन्वयप्रयोजकरूपवत् योग्यत्वं निवेशितम् । हेतुशरीरे प्रथमतस्तत्तद्विनिर्णययोग्यत्वं,



गामभ्याजेतिपदस्मारितपदार्थवत् इत्यनुमानात् संसर्गसिद्धेः, किं वा  
एतानि पदानि स्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकाङ्क्षादि-  
मत्पदत्वात् इत्यनुमानात् तत्सिद्धेः, ज्ञानज्ञानस्य तद्विषयविषयकत्व-  
नियमादित्यत्राह,—

द्वितीयसत्यनदलीनाकाङ्क्षावत्त्वं, दिशेयदलीन तात्पर्यवत्त्वम् आसन्तिमत्त्वञ्च सूचितम् ।  
घटेन जलमाहर इत्यादिवाक्यश्रवणानन्तरं जलाहरणं घटकरणकं न वेत्यादिसंशयानु-  
दयवत् घटो जलाहरणकरणं न वेत्यादिसंशयानुदयात् तादृशवाक्यस्य घटधर्मिकजला-  
हरणकरणत्वबोधेऽपि तात्पर्यं मन्तव्यमिति सूचनायैव परस्परं संसर्गवन्त इत्युक्तम् ।  
एवञ्च छिद्रे घटे जलाहरणकरणत्वरूपसाध्याभाववति विशेष्यदलसत्त्वात् द्वितीयसत्यन-  
दलस्य च सत्त्वात् व्यभिचारवारणाय प्रथमसत्यनदलं, जलाहरणं प्रति छिद्रेतरघटत्वेन  
करणत्वात् छिद्रघटे स्वरूपयोग्यत्वघटितजलाहरणकरणत्वस्याप्यभावात् । पुन-पुरुषयो-  
रुभयोः राजसम्बन्धबोधतात्पर्येण प्रयुक्तस्य अयमेति पुनो राज्ञः पुरुषोऽपसाध्यतामित्यादि-  
वाक्यस्य श्रवणानन्तरं राजसम्बन्धस्य पुनो अन्यबोधानन्तरं पुरुषे राजसम्बन्धबोधे श्रोतु-  
रिच्छा न जायते तेन वाक्येनान्यबोधस्य जनितत्वात् तथाच पुरुषे राजसम्बन्धान्वय-  
प्रयोजकरूपवत्स्वरूपयोग्यतासत्त्वात् निरुक्ततात्पर्यविषयराज्ञ-इतिपदाव्यवहितपुरुषपदस्मारित-  
त्वाच्च श्रोत्रिष्कारूपाकाङ्क्षाविषयराजसम्बन्धरूपसाध्यस्याभावात् व्यभिचारवारणाय द्विती-  
द्वितीयसत्यनदलं, पुननिष्ठस्य राजसम्बन्धस्य बोधविषयत्वेनाकाङ्क्षितत्वात् पुरुष-  
निष्ठस्य राजसम्बन्धस्यानाकाङ्क्षितत्वात् । सैन्धवमानयेतिवाक्यात् लवणतात्पर्यत्वात्  
अश्वकर्मत्वबोधानुदयसात्पर्यविरहादेव इति सर्वसिद्धं, तत्राश्वकर्मत्वे तात्पर्यविषयसैन्धवस्य  
आधेयत्वसम्बन्धेनाभावात् तात्पर्याघटितहेतुसत्त्वात् व्यभिचारवारणाय द्विती तात्पर्यं  
निवेष्टितम् । गिरिशुक्लमग्निमान् देवदत्तेनेत्यादौ गिरिपदाग्रिमत्पदयोः अव्यवधान-  
विरहेण तत्कालीननिरुक्तोच्छाविषयत्वघटितसाध्याप्रसिद्ध्या व्यभिचारवारणाय तत्कालीन-  
तादृशबोधेच्छीश्रितेनेति पदविशेषणम् । इत्या अतयोरेव पदार्थयोः पदश्रवणानन्तरं  
बोधस्यानुभवसिद्धतया इत्या खरणकाललाभाय द्विती तन्निवेशः । एवञ्च घटमित्यादी  
कर्मत्वे आधेयत्वसम्बन्धेन घटपदार्थान्वयप्रयोजकरूपवत्त्वे सति आधेयत्वसम्बन्धेन  
तत्पदार्थप्रकारतानिरूपितघटपदाव्यवहितानुसारपदाधीनबोधीयविशेष्यत्वेन तत्कालीन-



अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निर्णयः ।

आकाङ्क्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरवन्धना ॥ १३ ॥

अत्र पदार्थपक्षकानुमाने संसृष्टा एवेति यदि संसर्गवत्त्वं साध्यते, सम्भावितसंसर्गका इति संसर्गरूपयोग्यत्वं वा, आद्ये पयसा सिद्धतीत्यादावनैकान्तः, द्वितीये न संसर्गनिर्णयः, अन्यप्रयोजकरूपवत्त्वरूपयोग्यताया हेतुविशेषणीकतत्वेन सिद्धसाधनाच्च । द्वितीये

श्रीनिच्छाविषयत्वे च सति तत्कालीनकर्मत्वविशेषकाधेयत्वसं'सर्गक'घटप्रकारकबोधेच्छा-  
प्रयुक्तघटस्मारकघटपदार्थवद्वितानुस्मारपदस्मारितत्वरूपविशेषहेतुमत्तायद्वात् यत्तत्त्वदघटित-  
सामान्यव्याप्तिर्यद्वसद्वृत्तात् कर्मत्व' घटीयम् इति विशेषतः साध्यसिद्धिरिति फलितम् ।  
एतानि पदानीति, तथाच यत्पदं यत्पदार्थान्वययोग्यतावदयत्पदार्थस्मारकपदार्थव-  
द्वितत्वं सत् तत्पदार्थप्रकारकतत्पदार्थविशेषकाश्रीद्वबोधेच्छाप्रयोजकं भवति तत्पदं तत्प-  
दार्थवत्तत्पदार्थबोधपूर्वकं भवतीति सामान्यव्याप्तिरिति भावः । ननु तादृशबोधपूर्वकत्व-  
सिद्धावपि न तत्पदार्थवत्तत्पदार्थसिद्धिरित्यत आह ज्ञानज्ञानस्तेति प्रकृते पदार्थसं'सर्ग-  
प्रमानुमितिः, तद्विषयेति तस्य पदार्थसं'सर्गप्रमायाः यः सं'सर्गरूपोविषयः स एव विषयो यस्य  
तादृशत्वनिश्चयमादित्यर्थः ।

परस्परं सं'सर्गवन्तः इत्यस्य किं परस्परं सं'सृष्टा एव इति नियमे तात्पर्यं परस्पर-  
सं'सर्गरूपयोग्यत्वे वा इति विकल्प' मनसिक्लव्य वैशेषिकसमाधानं दूषयति, मूले अनैकान्त-  
इति, परिच्छेदे नियमे नियमेन सं'सर्गवत्त्वसाधने इति यावत् । सम्भवे सं'सर्गरूप-  
योग्यत्वसाधने इत्यर्थः, सं'सर्गरूपयोग्यत्वस्य सं'सर्गप्रयोजकरूपवत्त्वं तच्च रूपं पयसा  
सिञ्जति इत्यत्र अप्रतिरुद्धद्रवत्ववज्जलत्वादिकं, घटेन जलमाहर इत्यत्र क्षिप्तेतरघटत्वा-  
दिकम् । टीकायाम् आद्य इति आद्ये नियमेन सं'सर्गवत्त्वानुमाने इत्यर्थः, अनैकान्त-  
इति यादृशजलेन कदापि सेको न जातः सेककरणत्वसं'सर्गरूपसाध्याभाववति तादृश-  
जले प्रायुक्तहेतोः सत्त्वात् व्यभिचार इति भावः । वर्द्धमानोपाध्यायैरपि तथैवोक्तं  
“यद्योरेव घटानयनयोः परस्परसं'सर्गो न जातः तेनैव व्यभिचारात्” इति । केचित्तु  
नारकादिस्फुरकत्वाभिप्रायं प्रयुज्यादित्युक्तं इत्यादिवाक्ये व्यभिचार इति दातव्यं



प्रयोगे आकाङ्क्षा सत्तया इति । आकाङ्क्षा हि समभिव्याहृतपदस्मारितपदार्थजिज्ञासा, घटमित्युक्ते आनय पश्येति, आनयेत्युक्ते घटं पठं वेति जिज्ञासादयः । ननु योग्यतासहितासत्तिरेव हेतुरस्तु, तत्राह योग्यासत्तिरवन्धना इति व्याप्तिशून्या, अयमेति पुत्रोराज्ञः पुरुषोऽपसार्थतामित्यत्र निराकाङ्क्षयोरारजपद-पुरुषपदयोर्व्यभिचारात् ॥ १३ ॥

वर्णयन्ति । तत्र मनोरमं सेकं प्रति अप्रतिरुद्धवत्त्ववज्जलत्वेन हेतुत्वात् करकादिस्थिरजले स'सर्गप्रयोजकरूपस्वरूपयोग्यतादिघटितप्रागुक्तहेतोरसत्त्वेन व्यभिचारासम्भवात् । द्वितीय इति स'सर्गस्वरूपयोग्यत्वानुमान इत्यर्थः । न स'सर्गनिर्णय इति, तथाच स्वरूपयोग्यत्वमात्रनिर्णयेऽपि स'सर्गनिर्णयात् वाक्यस्य स'सर्गनिर्णयरूपफलकत्वासम्भव इति भावः । स्वरूपयोग्यत्वानुमाने दोषान्तरमाह अन्वयप्रयोजकत्वादि, सिद्धसाधनाच्चेति अनुमितिः पूर्वं हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेतुज्ञानस्य नियतापेक्षणीयत्वादिति भावः । पदपचकानुमाने दोषमाह द्वितीये प्रयोग इति पदपचकानुमान इत्यर्थः । एतदुपलक्षणं पदार्थपचकानुमानेऽपि हेतोरआकाङ्क्षाघटिततया अयं दोषो द्रष्टव्यः । सत्तयेति विद्यमानतया न तु ज्ञानविषयत्वेनेत्यर्थः, तथाच स्वरूपसत्या एव आकाङ्क्षायाः शाब्दबोधहेतुत्वात् अनुमिती च हेतुनिर्णयसापेक्षणीयत्वात् आकाङ्क्षाया लिङ्गविषया हेतुत्वासम्भवेन शब्दस्य प्रमाणांतरत्वमवश्यमज्ञौकार्थ्यमिति भावः । ननु योग्यतायाः आसत्तेश्च ज्ञानं शाब्दबोधिप्रयोगि अतः योग्यताविशिष्टासत्तिरेव हेतुरस्तु किम् आकाङ्क्षाया हेतुघटकत्वेनेत्याशङ्कते नन्वित्यादिना, अवन्धनेति न बन्धनं व्याप्तिरूपः सन्धनौ यस्यां सा तथा इत्यर्थः । व्यभिचारादिति तथाच यत्र यादृशार्थबोधे वक्तृतात्पर्यं तत्र वाक्ये तद्वक्तृसादृशार्थज्ञानपूर्वकत्वं, यादृशार्थबोधे शिष्यस्य नाकाङ्क्षा तत्र वक्तुरपि न तात्पर्यम् अनाकाङ्क्षिताभिधानप्रसङ्गात् एवञ्च राजपुरुषान्वये तात्पर्यविरहादेव तादृशपदार्थस'सर्गज्ञानपूर्वकत्वविरहेण व्यभिचार इति भावः । न च तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वात् तात्पर्यसम्बलितयोग्यासत्तिमत्त्वेन हेतुना पदार्थस'सर्गज्ञानपूर्वकत्वं साधनीयम् इति न व्यभिचार इति वाच्यम् । तथा सति योग्यतादिविशेषणस्य निष्फलत्वेन हेतोर्यथैव विशेषणघटितत्वापत्तेः, तात्पर्यं हि तत्पदार्थवत्तत्पदार्थबोधेच्छयोश्चरितत्वं तच्च तत्पदार्थं



प्राभाकरास्तु वेदस्यापौरुषेयतया तत्र वक्तृज्ञानानुमानासम्भ-  
वात् शब्दः प्रमाणं, लोके तु आप्तोक्तत्वज्ञानमपेक्षितं, तथाचायं  
वक्ता स्वप्रयुक्तवाक्यार्थयथार्थज्ञानवान् भ्रमाद्यजन्यवाक्यार्थज्ञान  
जन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वात् इत्यनुमानाद्वक्तृज्ञानावच्छेदकतया, उत्तर-  
कालं वा एते पदार्थाः परस्परं संस्पृष्टाः वक्तृयथार्थज्ञानविषय-  
त्वात् इत्यनुमानात्, साक्षाद्वाक्यार्थसिद्धेः, क्लृप्तसामर्थ्यात् शब्दात्  
पुनरन्वयधीरित्यनुवादकोलौकिकः शब्देन प्रमाणमिति प्राहु-  
स्तत्राह ।

वक्तव्यदार्थज्ञानपूर्वकत्वनिश्चयमिति तत्तदर्थतात्पर्यकत्वस्य हेतुत्वे इतरवैयर्थ्यम् । वस्तुतस्तु  
शब्दश्रवणानन्तरित्यनुमानोत्तरं शब्दश्रवणं न त्वनुमिनो मौल्यादिप्रत्यक्षसिद्धानुमितिलविरुद्ध-  
शब्दत्वजातेरपञ्चोक्तमशक्यत्वे न तादृशविजातीयप्रमाकरणतया शब्दस्य प्रमाणान्तरत्व-  
मिति ॥ १२ ॥

शब्दभावस्य अनुमानेन गतार्थत्वम् इति वैशेषिकमतं निरस्य लौकिकशब्दभावस्य  
अनुवादकत्वेन न प्रमाणत्वमिति प्राभाकरमतमुल्लाप्य निरस्यति प्राभाकरास्तित्यादिना,  
अपौरुषेयतया अपौरुषेयत्वनिश्चयेन, वक्तृज्ञानानुमानासम्भवादिति तथाच वेदे अपौरुषे-  
यत्वनिश्चयरूपवाधनिश्चयान् पौरुषेयत्वनिश्चयरूपवक्तृज्ञानानुमानासम्भवादिति भावः ।  
न च तेषां मते शब्दभावस्य नित्यत्वात् कथं लौकिकवाक्यस्य पौरुषेयत्वमिति वाच्यम् ।  
शब्दस्य नित्यत्वेऽपि लौकिकवाक्यस्य आनुपूर्वीविशिष्टत्वरूपाया रचनायाः पौरुषेयत्वात्  
वेदे तु वक्तुरभावात् आनुपूर्वीमत्त्वात्पि तत्र नित्यत्वम् इति तेषाम् अभिमानात् ।  
अपेक्षितमिति कारणतयैत्यादिः, तथाचायमित्यादि । न च सामान्यतो वाक्यार्थत्वसा-  
व्यावर्तकतया वाक्यार्थत्वेन वाक्यार्थसिद्धावपि घटमितिवाक्यात् न कर्मत्वं घटीय-  
मित्यादिज्ञानसिद्धिः येन घटमितिवाक्यस्य गृहीतयाहित्वेनाप्राप्तायां भवेत् इति  
वाच्यम् । उक्तानुमानस्य विशेषानुमाने तात्पर्योक्तम् । अनुमानञ्च घटमितिवाक्य-  
वक्ता घटवत्कर्मत्वयथार्थज्ञानवान् भ्रमाद्यजन्यघटप्रकारक-कर्मत्वविशेष्यकज्ञानजन्यघट-  
मितिवाक्यप्रयोक्तृत्वादित्यादिरूपं, भ्रमादीत्यादिपदात् कारणापाटवप्रतारणादिप्रति-  
पक्षः । भ्रान्त-प्रतारकादौ व्यभिचारवारणाय भ्रमाद्यजन्येति वाक्यविशेषणं, युक्तादौ



निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्वि प्रागेवार्थस्य निर्णये ।

व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥ १४ ॥

वेदेऽवधारितसामर्थ्याच्छब्दास्तोकस्थलेऽपि प्रागर्थनिर्णये लिङ्ग-  
स्यैवानुवादकत्वं, व्याप्तिस्मृतिविलम्बेनानुमानस्य शब्दापेक्षया विल-  
म्बितधीजनकत्वात् ॥ १४ ॥

नन्वाप्तोक्तत्वस्य संशये व्यतिरेके च शाब्दज्ञानानुत्पत्त्या निर्णयो-  
हेतुर्वचः, आप्तोक्तत्वञ्च प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थधीजन्यत्वमिति,  
वाक्यार्थधीः प्रथमतोऽनुमानादेव वाच्या इत्यत्राह,—

अभिचारवारणाय घटप्रकारककर्मत्वज्ञानग्रन्थेति विशेषणम् । न च घटमितिवाक्यस्य  
घटप्रकारककर्मत्वविशेषकज्ञानजन्यत्वासिद्ध्या हेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । बुबोधयिषया  
वाक्यप्रयोगं प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य हेतुतया बुबोधयिषाप्रयुक्तघटमितिवाक्यस्य वाक्यार्थ-  
ज्ञानजन्यत्वात् । वक्तृज्ञानवच्छेदकतयेति विषयतासम्बन्धेन वक्तृज्ञानविशेषणतयेत्यर्थः,  
अस्य वाक्यार्थसिद्धेरित्येनान्वयः । परम्परया वाक्यार्थसिद्धिमुक्त्वा साक्षात् वाक्यार्थ-  
सिद्धिमाह एतं पदार्था इति, तथाचायं प्रयोगः कर्मत्वं घटसंसृष्टं वक्तृयथार्थघटज्ञान-  
विशेष्यत्वादिति । कृतृसामर्थ्यादिति वैदिकशब्दस्थलकृतृप्रकारणकलापसङ्कतादित्यर्थः ।  
अनुवादकः गृहीतयाहीत्यर्थः, न प्रमाणमिति तेषां मते अगृहीतयाहित्वस्य प्रमाणलक्षण-  
त्वादिति भावः । सूत्रे निर्णीतशक्तेरित्यादि निर्णीतशक्तेः निर्णीतयोग्यताकाङ्क्षादिमत्व-  
रूपसामर्थ्यादित्यर्थः, प्रागेव अनुमानात् पूर्वमेव, निर्णये शाब्दात्मकनिर्णये, अनुवादिता  
गृहीतयाहित्वम् । व्याख्यायां विलम्बितधीजनकत्वादिति तथाच तुल्ययुक्त्या वेदे यादृशी  
सामर्थी तादृश्वेव लोके न त्वपेक्षणीयान्तरमस्ति इति वैदिकशब्दस्थल इव लौकिकशब्द-  
स्थलेऽपि मानाभावेन न आप्तोक्तत्वनिश्चयस्य हेतुत्वं येन वक्तृयथार्थज्ञानानुमानमपेक्षणीयं  
भवेदिति भावः ॥ १४ ॥

यस्य संशये व्यतिरेकनिश्चये च यदनुत्पादः तन्निश्चयस्तत्र कारणम् इति नियममभि-  
प्रेत्य आप्तोक्तत्वनिश्चयस्य अन्यबोधहेतुत्वं प्राभाकरः पुनः शङ्कते नन्वित्यादिना, निर्णयो  
हेतुरिति, तथाच अनाप्तोक्तत्वनिश्चयाभावस्य हेतुत्वकल्पनमपेक्ष्य आप्तोक्तत्वनिश्चयस्य



व्यस्तपु'दूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात् पदैरमो ।

अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः ॥१५॥

आप्तोक्तत्वनिश्चयस्य हेतुत्वे मानाभावः, बाधकप्रमाविरहरूप-  
योग्यताज्ञानविलम्बादेवायोग्येऽन्वयधीविलम्बसम्भवात्, अन्यथा  
वेदेऽपि अपौरुषेयत्वधीर्हेतुरसु, तथाच तत्रापि असौ वैदिका अर्था-  
अन्विताः परस्परं संसृष्टाः व्यस्तपु'दूषणाशङ्कैः पदैः स्मारितत्वात्  
इत्यनुमानात् संसर्गे निर्णीते तत् अनुवादकत्वं वेदस्यापि न कुतः ।

हेतुत्वे लाघवमिति भावः । इत्यत्राह इत्यत्र प्रतिबन्धिमाहेत्यर्थः । व्यस्तपु'दूषणेति  
व्यस्ता निरस्ता पु'दूषणानां भ्रम-प्रमादादिरूपपुरुषदोषाणाम् आशङ्का येषु तैरित्यर्थः ।  
आप्तोक्तत्वनिश्चयहेतुत्वस्य सप्रमाणत्वे प्रतिबन्ध्या निरासाम्भवादादौ आप्तोक्तत्वनिश्चय-  
हेतुतायां प्रमाणाभावः दर्शयति आप्तोक्तत्वनिश्चयस्तेति । नन्वनाप्तोक्तत्वनिश्चये कथं न  
शब्दबोध इत्यत्र आह बाधकप्रमाविरहेति, अयोग्ये अनाप्तोक्तत्वगृहे, तथाच यत्र अनाप्तो-  
क्तत्वगृहः तत्र न बाधकप्रमाविरहः अपि तु बाधकनिश्चयात्मकप्रमेव सुतरां तत्र बाधक-  
प्रमाविरहरूपयोग्यताज्ञानविलम्बादेव अन्वयधीविलम्ब इति भावः । अन्यथा आप्तोक्त-  
त्वगृहस्य लौकिकवाक्यार्थबोधहेतुत्वे, वेदेऽपीति अपौरुषेयत्वधीरिति नित्यत्वेन दोषवत्-  
पुरुषाप्रणीतत्वधीरित्यर्थः, मीमांसकमते शब्दभावस्य नित्यत्वेऽपि लौकिकवाक्यानुपूर्वी न  
नित्या वेदानुपूर्वी च नित्येति वेदस्य नित्यत्वमन्यवाक्यस्यानित्यत्वमिति भावः । तथाचेति  
दोषवत्पुरुषाप्रणीतत्वनिश्चयस्य हेतुतया अपेक्षणीयत्वे चेत्यर्थः । अनुवादकत्वमिति सूत्रस्य-  
तत्पदस्य विवरणम् । न च लौकिकवाक्ये यथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्यत्वज्ञानस्य शब्दबोधहेतु-  
तया यथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्यत्वस्य वाक्यार्थगर्भतया लौकिकवाक्यस्य अनुवादकत्वं स्यात्  
वैदिकवाक्ये दोषवत्पुरुषाप्रणीतत्वनिश्चयस्य हेतुत्वेऽपि तस्य वाक्यार्थगर्भिततया शब्द-  
बोधात् पूर्वं वाक्यार्थज्ञानस्यानावश्यकत्वात् कथं वेदस्य अनुवादकत्वमिति वाच्यम् ।  
वेदस्य नित्यत्वेऽपि अन्धपरम्परान्यायेन अध्यापकपरस्परोरुचितत्वगृहे वेदादपि न शब्द-  
बोध इति वेदेऽपि यथार्थवाक्यार्थधीमत्पुरुषोच्चरितत्वगृहस्य लोकस्थलतुल्यश्रुत्या वेदार्थ-  
बोधहेतुत्वात् वेदस्याप्यनुवादकतापत्तेः । यदि च वेदस्य प्रामाण्यानुरोधेन मानाभावेन  
च वेदस्यैव यथार्थवाक्यार्थधीमत्पुरुषोच्चरितत्वगृहो न हेतुत्वादौ लोकेऽपि मानाभावात्



यत्तु पदं न करणं किन्तु पदार्थ एव अतएव पदार्थकरण-  
वाक्यार्थज्ञानात् कविकाव्यादिकं, द्वारमित्यत्र द्वारोपस्थितावपि  
पदार्थनिष्ठाकाङ्क्षाविरहेणान्वयाबोधः, शब्दो ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव  
प्रपूर्यत इति न्यायात् । अतएव पदानामवच्छेदकत्वं पदजन्योप-  
स्थितिं विना पदार्थान्वयाबोधात् । तदुक्तम् “प्राथम्यादभिधातृ-  
त्वात् तात्पर्योपगमादपि । पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम् ॥”  
अभिधातृत्वात् पदार्थोपस्थापकत्वात् इति गुरुमतमपास्तं,  
पदानामित्यत्र आप्तानामिति प्रक्षेपेणापि आप्तोक्तत्वस्यावच्छेदकत्वा-

यथायवाकारार्थबोधजन्यत्वयो न शब्दबोधहेतुरिति लौकिकशब्दोऽपि प्रमाणम् । न च  
वाक्यार्थयथायवोद्देशेच्छोच्चरितत्वरूपतात्पर्यग्रहस्य शब्दबोधहेतुतया तात्पर्यघटकवाक्यार्थज्ञानस्य  
पूर्वं सिद्धत्वात् शब्दस्यानुवादकत्वमिति वाच्यम् । तत्पदार्थप्रकारकतत्पदार्थविशेष्यकबोधे-  
च्छोच्चरितत्वमेव तात्पर्यं न तु तत्पदार्थवन्तत्पदार्थविषयकबोधेच्छोच्चरितत्वम् इति तात्पर्य-  
ग्रहस्य वाक्यार्थविषयकत्वाभावात् ।

पदार्थस्य अन्वयबोधकरणतावादिनो भट्टस्य मतमुल्लाप्य निरस्यति यत्त्विति, अत-  
एवेति पदार्थस्य करणत्वादिवेत्यर्थः, कविकौव्यादिकमिति, तथाच कवयः अपूर्ववाक्यार्थम्  
अनुभूयैव अभिनवकाव्यं रचयन्ति तादृशापूर्ववाक्यार्थज्ञानम् असन्निकृष्टविषयकत्वात् न  
प्रत्यक्षं, व्याप्तिज्ञानापूर्वकत्वात् नानुमितिः, शब्दाभावात् न शब्दबोधः, परन्तु  
अन्वयबोध एव तादृशबोधे चिन्तावशोपस्थिताः पदार्था एव हेतवः न तु पदानि इति  
न शब्दः प्रमाणान्तरमिति भावः । क्वचित् पदार्थोपस्थित्यर्थं पदस्यापेक्षणेऽपि पदा-  
र्थोपस्थित्या पदमन्यथासिद्धं, कथमन्यथा श्वेतरूपदर्शनात् द्वेषशब्दश्रवणात् शूरविघ्नेप-  
शब्दश्रवणात् शब्दं विनापि श्वेतोऽश्वोधावतीति धौरूपयते । ननु पदस्याकरणत्वे यत्र  
द्वारमित्युक्तं तत्र विधानपदोपस्थितिं विना कथं नाङ्गयबोध इत्यत आह द्वारमित्येवेति  
द्वारमितिपदजन्यद्वारपदार्थोपस्थितावपीत्यर्थः, पदार्थनिष्ठाकाङ्क्षाविरहेणेति तथाच  
पदोपस्थितपदार्थस्य पदोपस्थितपदार्थान्तरेणैवान्वयबोधः न तु प्रकारान्तरेणोपस्थित-  
पदार्थेन इति नियम इति भावः । नियमं प्रमाणयति शब्दो ह्याकाङ्क्षेति, शब्दो  
शब्दप्रयोज्या, तथाच अन्वयबोधसामान्ये ज्ञायमानपदार्थः पदार्थोपस्थितिर्वा कारणः



पातात्, तथाचावश्यस्त्रोकार्थपदार्थोपस्थितौ पदमन्यथासिद्धं न  
करणमिति, तन्न, पदार्थानामतौतादिरूपतया अकारणत्वात्,  
पदार्थस्मरणस्यापि निर्व्यापारतया अकारणत्वात्, पदज्ञानस्यैव  
करणत्वात्, पदार्थस्मृत्योर्व्यापारत्वात्, कविकाव्यादिस्थले च मानस-  
ज्ञानं हेतुरिति ॥ १५ ॥

पदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थित्युत्तरान्वयबोधे पदव्यारितयोः पदार्थयोः जिज्ञासा वक्तृतात्पर्य-  
ज्ञानञ्च हेतुः, पदज्ञानजन्यार्थोपस्थित्युत्तरान्वयबोधे पदार्थयोजिज्ञासाकृपा आकाङ्क्षा हेतुर्न  
वक्तृतात्पर्यज्ञानमपीति पथ्यवसितम् । भट्टमतानुसारी गुरुषोक्तदोषं निरसितुमाह अत-  
एवेति कविकाव्यस्थले व्यभिचारेण पदस्य हेतुत्वासम्भवादिवैल्यर्थः, पदानामवच्छेदकत्व-  
मिति पदानां कारणत्वमित्यर्थः । पदस्य कारणत्वे युक्तिमाह पदजन्योपस्थितिं विनेति,  
अतोऽशोभावतीतिबुद्धेः, लिङ्गजलाभ्युपगमात् न तत्रानुपपत्तिः । पदस्य कारणत्वे प्राचां  
संवादमाह, तदुक्तमिति, प्राथम्यादिति प्रथमोपस्थितत्वात् इत्यर्थः, ननु प्रथमोपस्थितत्व-  
मात्रं यदि कारणतासाधकं तदा प्रथमोपस्थितमन्यदुदासीनमपि कारणं स्यादित्यत-  
आह अभिघाटत्वादिति इत्यस्य विवरणं पदार्थोपस्थापकत्वात् पदार्थोपस्थापकत्वेन  
पदस्य अवश्यकृतृमनियतपूर्ववर्तिताकत्वादित्यर्थः, तात्पर्य्यगृहार्धमपि पदस्वावश्यकत्वमाह,  
तात्पर्य्योपगमादपीति तात्पर्य्यगृहस्य शाब्दबोधहेतुत्वोपगमादपीत्यर्थः, सा शक्तिः शाब्द-  
बोधोपधिकी शक्तिः शाब्दबोधकारणत्वमिति यावत्, पदानामेवैत्येवकारेण पदार्थस्य शाब्द-  
बोधकारणत्वव्यवच्छेदः । गुरुमते दूषणान्तरमाह, पदानामित्यनेति गुरुमतसिद्धश्लोक-  
इत्यादिः, प्रक्षेपेणापीति अपिभिन्नक्रमे आप्तानामपि प्रक्षेपेण इति योजनं, आप्तस्वाव-  
च्छेदकत्वापातादिति आप्तस्य कारणत्वापातादित्यर्थः, प्राथम्यादितः यदि पदानाम्  
अन्यबोधे कारणत्वं तदा आप्तानामेव तथात्वात् तेषाम् अन्यबोधकारणत्वं स्यादिति  
यावत् । आप्तस्य पदोच्चारयित्वेन पदादपि प्राथम्यम्, आप्तोक्तपदज्ञानस्य पदार्थोप-  
स्थापकतया अभिघाटत्वम्, आप्तवक्तृतात्पर्य्यज्ञानस्य हेतुतया -तात्पर्य्यघटकतयापि आप्त-  
स्वावश्यकत्वम् । तथाच यथा आप्तानां पदोच्चारणमात्रे हेतुत्वं नान्वयबोधे तथा पदानां  
पदार्थोपस्थितिमात्रे हेतुत्वं नान्वयबोधे आकाङ्क्षादिविशिष्टपदार्था एव अन्यबोधका-  
इति भावः । ननु पदानामिव आप्तस्यापि कारणत्वमिदमेवेत्यत आह तथाचेति, अवश्य-



ननु शब्दोऽतिरिच्यतां प्रमाणं, स पव बाधकोऽस्तु तथाहि “प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहंमिति मन्यते ॥” इति गीतां पठन्ति । प्रकृतेर्बुद्धितत्त्वस्य गुणैः सत्त्वादिभिः क्रियमाणानि कर्माणि मोहादहं कर्तेति चेतनो मन्यते, तेनाभिमानिकं कर्तृत्वं न पारमार्थिकं, न च सर्वज्ञस्याभिमानः, विशेषदर्शनात्, कर्तेति तन्निति न पृष्टी इत्यत्रोह,—

न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे कचिदाप्तता ।

अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ॥१६॥

अयं हि सर्वकर्तृत्वाभावावेदकः शब्दः अनाप्तोक्तयेन प्रमाणं,

स्वीकार्येति तथाच पदार्थोपस्थित्यर्थमेव पदस्यापेक्षणीयत्वेन पदार्थोपस्थितिरेव हेतुः अन्यत् अन्यथासिद्धिनिति भावः । भट्टमतं दूषयति तत्रेति, मानसज्ञानमिति अलौकिकमानसप्रत्यक्षमित्यर्थः, तथाच कविकाव्यानुरोधेन स्वीकृतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेनैवोपपत्तौ तत्र वैजात्यान्तरकल्पने मानाभावः शाब्दशरीरानुभवसिद्धज्ञानं प्रति पदज्ञानस्य कारणता अन्य-व्यतिरेकसिद्धेति भावः ॥ १५ ॥

नास्तिकः प्रत्यवतिष्ठते नित्यत्वादिना, मोहादिति बुद्धितत्त्वेन सह आत्मनोभेदादृष्टादित्यर्थः, आभिमानिकं कर्तृत्वमिति भेदापहनिमित्तकं कर्तृत्वमित्यर्थः, चेतनस्येति शेषः । न पारमार्थिकमिति तथाच चेतनस्यात्मनो निर्धिकारतया कृतिरूपपरिणामासम्भवात् पारमार्थिककर्तृत्वस्यासम्भव इति भावः । ननु जगत्कर्तृत्वेन ईश्वरस्यासिद्धावपि सर्वज्ञत्वेन ईश्वरसिद्धिरप्रत्यक्षेवेत्यत्र आह न च सर्वज्ञस्येति, सर्वज्ञस्य अभिमानाभावे हेतुमाह विशेषदर्शनादिति बुद्धि-चेतनयोर्भेदादृष्टादित्यर्थः, तथाच सर्वज्ञत्वेन जगत्कर्तृत्वेन च ईश्वरसिद्धिरिति भावः । ननु कर्तेति कृत्योर्ग कर्माणि इत्यत्र कथं न कर्मणि पृष्टी इत्यत्र आह न पृष्टीति, तथाच अत्वादिकृत्योर्ग पृष्टीविधानात् तदप्रत्ययस्यत्वादित्वात् पृष्टीति भावः । अनाप्तोक्तिरित्यस्य विशेष्यं पूरयति अयं हीति, शब्द इति प्रकृतेः क्रियमाणानीत्यादिशोकात्मकः शब्द इत्यर्थः, सूत्रे नादृष्टे इत्यादि अदृष्टे वाक्यार्थ-धर्माज्ञानविरहवति कचिद् कृतचित् पुंसि न आप्तता वाक्यप्रामाण्यप्रयोजकधर्मा-



आप्तोक्तश्चेदेतदर्थं गोचरज्ञानवतो नित्यसर्वविषयकज्ञानवत्त्वं इन्द्रियाद्यभावात्, आगमस्य च नित्यत्वं दूषितमेव प्रागिति वेदकारो-  
नित्यः सर्वज्ञः सिद्धयति ॥ १६ ॥

नन्वसत्त्वबोधकागमानां का गतिस्तत्राह,—

न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात् ।

निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥ १७ ॥

असावागमो नासत्त्वमात्रपक्ष एव, सत्त्वस्यापि बहुशः “मत्तः सर्वं प्रवर्तते” इत्यादिभिः प्रतिपादनात् इयोश्च न मुख्यार्थत्वं विरोधात्, विनिगमकचिन्तायां विशेषगुणशून्यात्मस्वरूपस्य ध्येयत्वतात्पर्य-

वाक्यार्थज्ञानवत्त्वरूपासता, सूत्रे अदृश्यदृष्टावित्यस्य तदाक्षयवक्तृरित्यादिः, अदृश्यदृष्टौ अदृश्यस्य अतीन्द्रियस्य तादृशवाक्यार्थस्य दृष्टौ ज्ञाने स्वीकृतायामिति शेषः, सर्वज्ञः तदाक्षयवक्ता सर्वज्ञः, तथाज्ञं तस्यैवैश्वर्यत्वं न तादृशवाक्यस्य बाधकत्वम् इति भावः । इममेवार्थमाह टीकायाम् एतदर्थेत्यादिना । ननु तादृशतापि कथं नित्यसर्वविषयकज्ञानवत्त्वसिद्धिः इत्यत-  
आह इन्द्रियाद्यभावादिति तथाच इन्द्रियादिजन्यं ज्ञानम् इन्द्रियसन्निकर्षादिनियमित-  
विषयकम् अशरीरस्य इन्द्रियाद्यभावात् तज्ज्ञानं सुतरां नित्यं विनिगमकाभावात् सर्व-  
विषयकचेति नित्यसर्वज्ञत्वेनेश्वरसिद्धिरिति भावः । ननु तदाक्षस्य नित्यत्वेन कथं तदङ्गुतया ईश्वरसिद्धिरित्यत आह सूत्रे न च नित्यागम इति, उक्तगीतावाक्यं नित्यागमः नित्यवेदैकदेशः अतः चमः प्रमाणम् इति न चेत्यर्थः, अत्र हेतुं पूरयति आगमस्य चेत्यादि, प्रागिति द्वितीयस्तवक इत्यर्थः ॥ १६ ॥

असत्त्वबोधकागमानामिति अकर्तृत्वबोधकागमानामित्यर्थः । सूत्रे न चासाविति असौ आगमः क्वचित् असत्त्वमात्रपक्षे अकर्तृत्वमात्रपक्ष इति यावत्, न एकान्तः न नियतः न तात्पर्यविषय इति यावत्, क्वचिदित्यस्य विवरणं टीकायाम् असत्त्वमात्रपक्ष एवेति । सूत्रे सत्त्वस्यापीति कर्तृत्वस्यासि प्रवेदनात् प्रतिपादनादित्यर्थः । ननु तर्हि तादृशायमस्य किं तात्पर्यमित्यत आह, सूत्रे निरञ्जनेत्यादि सन्नपि आपाततः असत्त्वबोधकत्वेन प्रतीयमानः सन् विद्यमानोऽपि क्वचिदागमः निरञ्जनावबोधार्थः आत्मनो यन्निरञ्जतत्वं विशेषगुणशून्यत्वं



कत्वं बाधकश्रुतीनां, साधकश्रुतीनाञ्च कार्य-कारणभावादितर्क-  
मूलकानुमानसाचिव्येन मुख्यार्थकत्वात् ॥ १७ ॥

ननु यद्यसौ सर्वज्ञः स्यात् अनुपदिश्यापि प्रवर्त्तयेदित्युपदेश-  
नुपपत्तिरेवासु ईश्वरे बाधिका, न ह्ययमनुपदिश्य स्वयं प्रवर्त्तयितुं  
न जानाति सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः, अर्थापत्तिश्च मानान्तरं तत्राह,—

हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा ।

तदभावात् प्रवृत्तिर्न कर्मवादेऽप्ययं विधिः ॥ १८ ॥

प्रमाणेऽसति न प्रमा प्रमाणरूपहेत्वभावे फलाभावात् प्रमा-  
विरहात्, प्रमाविरहे च न प्रवृत्तिः कारणाभावात्, प्रमाकारण-

तदध्येयमित्येवम्परः, न च तत्परः न त्वकर्तृत्वपर इत्यर्थः । तथाच निरञ्जनं ब्रह्मेति  
श्रुतिः सोचादिरूपेण साधननिरञ्जनत्वप्रकारकध्यानविषयब्रह्मपरा न त्वकर्तृत्वेन ब्रह्मपरेति भावः ।  
ननु साधकश्रुतीनामेव गौणार्थत्वं बाधकश्रुतीनां मुख्यार्थत्वम् इत्यपि किं न रोचयेः इत्यत  
आह टीकायां साधकश्रुतीनाञ्चेत्यादि, तथाच तर्कसहकृतत्वेन साधकश्रुतीनामेव बलवत्त्वमिति  
भावः ॥ १७ ॥

अनुपपत्तिं बाधकत्वेन प्रमाणयति, यद्यसौ सर्वज्ञः स्यादिति, अनुपदिश्यापि वेदमनु-  
ज्ञापि, प्रवर्त्तयेदिति यागादावित्यादिः, तथाच उपदेशं विना यस्य ज्ञानं प्रवर्त्तकं भवेत्  
तस्यापि सर्वज्ञ इत्यं सर्वान्तर्गतत्वेन वेदादिरूपोपदेशकर्तृरीश्वरस्य तज्ज्ञानाभावात् न  
सर्वज्ञत्वसम्भव इति भावः । इतीति सर्वज्ञस्य उपदेशं विनापि प्रवर्त्तकत्वसम्भवादित्यर्थः,  
उपदेशानुपपत्तिरेव उपदेशकर्तृत्वाभावप्रसङ्ग एवेत्यर्थः, ईश्वरे बाधिकेति ईश्वरे सर्वज्ञत्वा-  
भावसाधिकेत्यर्थः, ईश्वरस्य असारं ज्ञं विना उपदेशकर्तृत्वं न निर्वहति इत्यनुपपत्तिरेव  
ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभावसाधिकेति फलितार्थः, तथाच वेदस्यासर्वज्ञप्रणीतत्वे अप्रामाण्य-  
शङ्कया नित्यनिर्दोषतयैव वेदस्य प्रामाण्यमवश्यमङ्गीकार्यमिति न वेदकर्तृत्वेश्वरसिद्धि-  
रिति भावः । उपदेशसाधकशङ्कां निराकरोति न ह्ययमिति, न जानातीति इति  
वक्तुं न शक्यत इति शेषः । सर्वज्ञत्वानुपपत्तेरिति, तथाच उपदेशं विनापि पुरुषः यज-  
ज्ञात्वा कश्चिद्विधुं कार्यं परं प्रवर्त्तयितुं शक्नोति तज्ज्ञानं यद्वीश्वरस्य न वर्त्तते तदा



आग्निष्टोमेनेत्यादिविधिरेव इति नोपदेशव्यर्थता, अन्यथा कर्म-  
वादेऽप्ययं विधिः अदृष्टादेव प्रवृत्तेरुपपत्तेः वेदस्यानर्थक्यापत्तिः ।  
न वार्थापत्तिर्मानान्तरम् ॥ १८ ॥

तदेवाह,—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।

न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाग्यसौ समः ॥ १९ ॥

कथमीश्वरः सर्वज्ञ इति भावः । नन्वनुपपत्तेः कथं साधकत्वमित्यत आह अर्थापत्तिश्च  
मानान्तरमिति तथाच अनुपपत्तिज्ञानस्यार्थापत्तिरूपमानत्वादिति भावः । मूलं प्रमाण-  
इति प्रमाणे प्रवृत्तिकारणेष्वसाधनत्वादिप्रमांकरणे शब्दे असति अविद्यमाने न प्रमा नेष्ट-  
साधनत्वादिप्रमा, अतीन्द्रिययागादेः प्रमाणान्तरानुपस्थितेरिति भावः । अत्र हेतुमाह  
हेत्वभाव इति कारणाभावस्य कार्यभावनियामकत्वादिति भावः । टीकायां न प्रवृत्ति-  
रिति न यागादौ प्रवृत्तिरित्यर्थः, नोपदेशव्यर्थेति तथाच उपदेशं विना प्रवर्तनस्य  
खपुष्पादिवदलीकतया न तदज्ञाने सर्वज्ञाहानिरिति भावः । अन्यथेति उपदेशाभावे  
प्रवृत्तिसम्भव इत्यर्थः, कर्मवादेऽपि कर्मज्ञत्वादृष्टादेव जगदुत्पद्यते न लीश्वरादिति कर्म-  
मीमांसकमतेऽपि, कारिकायाम् अयं विधिरिति इदं तुल्यमित्यर्थः, एतदेव व्याचष्टे टीकायाम्  
अदृष्टादेवेति, वेदस्यानर्थक्यापत्तिरिति तथाच उपदेशसहावेऽपि यत्र अदृष्टं नास्ति तत्र  
प्रवृत्त्यनुपपत्तौ सर्वत्रादृष्टमेव कारणमिति महाजनपरम्परायां वेदोपदेशस्य विफलत्वेन  
वेदस्यानर्थक्यप्रसङ्ग इति भावः ॥ १८ ॥

ज्योतिःशास्त्रात् देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वं यत्रावगतं प्रत्यक्षेण जीविनोदेवदत्तस्य गृहासत्त्व-  
चावगतं शतवर्षजीविनोदेवदत्तस्य वह्निःसत्त्वं विना गृहासत्त्वं नोपपद्यते इत्यनुपपत्तिज्ञानरूपार्था-  
पत्तिप्रमाणेन देवदत्तस्य वह्निःसत्त्वज्ञानं भवति तदेव अर्थापत्तिफलम् इति केचन मीमांसका  
मन्यन्ते तन्मतं दूषयति, न वेत्यादि, अत्र अर्थापत्तिशब्दवाच्यं ज्ञानम् अनुमितिमित्रं न वेति  
प्रमितौ विप्रतिपत्तिः, प्रमाणे च व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं व्यतिरेकव्याप्ताविषयकानुमिति-  
मित्रप्रमितिकरणं न वेति विप्रतिपत्तिः, व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धेः व्याप्ति-  
ज्ञानानुव्यवसायस्य च कारणाय व्यतिरेकव्याप्ताविषयकैति अनुमितिमित्रप्रमितिविशेषणम् ।



जीवी देहदत्तो गेहे नास्तीति ज्ञानानन्तरं बहिरस्तीति धीर-  
दाहरणं, तत्रानियस्यस्याव्याप्यस्य नायुक्तिर्नानुपपत्तिः, अनियन्ता  
अव्यापकोनोपपादकः, व्यापकव्यतिरेकेण व्याप्यस्यैव व्यतिरेकात्,  
तादृशानुपपत्तिज्ञाने व्यतिरेकव्याप्तिधीरेव । यदपि क्वचिदस्ति  
गेहे नास्तीतिज्ञानानन्तरं विरोधज्ञानेऽविरोधाय गेहान्यविषयता  
क्वचिदस्तीत्यस्येत्यर्थापत्तिरिति, तदपि न, न हि वास्तवोमानयो-

न वा अर्थापत्तिर्मानान्तरमिति अर्थापत्तिः अर्थापत्तिशब्दवाच्यं ज्ञानं तच्च अस्मन्मते व्यतिरेक-  
व्याप्तिज्ञानजानुमितिरेव, सीमांसकमते चातिरिक्तं, न मानान्तरं नानुमितिभिन्नमित्यर्थः,  
अतो न सिद्धासिद्धिभ्यां व्याघातः । अत्र अनुमितिभिन्नप्रमितिसामग्र्यजन्यत्वे सति जन्यत्वं  
हेतुरिति हृदयम् ।

उपपाद्यस्य उपपादकाभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् अनुपपत्तिः तच्च व्यति-  
रेकव्याप्तिरूपं, तथाहि देहदत्तो बहिरस्ति गृहास्तित्वाभाववन्तु सति जीवित्वात् यन्नैवम्  
तन्नैवम् यथा सतो गृहस्थितो वा इति व्यतिरेक्यनुमानेनैव अर्थापत्तिफलसिद्धिसम्भवात्  
अर्थापत्तेः नानुमितिभिन्नप्रमितिकरणत्वं इत्यभिप्रेत्य दूषयति, सूत्रे अनियस्येत्यादि ।  
उदाहरणमिति गृहगृहास्तित्वाभावविशिष्टजीवित्वं देहदत्तस्य बहिरस्तित्वं विना अनुपपन्न-  
मित्यनुपपत्तिरित्याह । बहिरस्तित्वधीरर्थापत्तिप्रसिद्धस्थलमित्यर्थः, तत्र अनुपपत्तिज्ञाने,  
विषयत्वं संस्यर्थः, अव्याप्यस्य उपपादकाव्याप्यस्य नानुपपत्तिः न उपपादकाभाव-  
प्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वं, अव्यापकः उपपाद्याव्यापकः, नोपपादकः न उपपाद्याभाव-  
प्रयोजकाभावप्रतियोगी, अत्र हेतुमाह व्यापकव्यतिरेकेणेति तृतीयार्थः प्रयुक्तत्वं, तच्च  
व्याप्यव्यतिरेकान्वधि, प्रयुक्तत्वं व्यापकत्वं तथाच उपपादकव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्  
उपपाद्यस्येति पर्यवसितं तदेव च व्यतिरेकव्याप्यत्वरूपम्, अतः व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानात्मकम्  
अनुपपत्तिज्ञानम् अनुमानविषयेव प्रमाणं न तस्य स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वम् इति भावः ।  
एवञ्च असर्वज्ञाभावस्य सार्वज्ञरूपतया सार्वज्ञाव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्याप्या-  
त्मकानुपपत्तिमहेदोपदेशकर्तृत्वस्य ईश्वररूपपक्षे ज्ञानस्य सार्वज्ञाभावानुमापकतया  
सीमांसकमते पञ्चाप्रसिद्धा तदनुमानं न सम्भवति पञ्चासिद्ध्या अनुमानासम्भवस्य कानु-  
मानमनाययमित्यनेन प्रागेवोक्तत्वमिति हृदयम् । यत्र प्रमाणयोर्विरोधः तामार्थापत्तिर-



विरोधः, तथा सत्येकं मानं भज्येत, विरोधज्ञानस्य तु विषयभेद-  
व्यवस्थापकत्वमनुमानविधयैव, तथाहि विरोधोभिन्नविषयकः एक-  
विषयतायां विरुद्धत्वे सति प्रमाणसिद्धत्वादिति, अन्यथा धूमोऽप्यनुप-  
पद्यमानो वज्रिं गमयेदित्यर्थापत्तिरिति प्रसिद्धमनुमानं न स्यात्,  
अर्वाभागावच्छेदेन वज्रानुपलम्भः धूमश्च वज्रिसाधनमिति विरोधे-  
ऽपरभागावच्छेदेन वज्रिव्यवस्थापनमप्यर्थापत्तेरेव स्यात्, अनुमाना-

विरोधोपपादिका विरोधाविरोधयोर्व्याप्य-व्यापकभावविरहात् अनुमानं न सम्भवतीति  
अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वम् इति केषाञ्चित् मतमुत्थाप्य दूषयति यदपीति, ज्ञानानन्तरमिति  
देवदत्तः कचिदस्तीति गेहे नास्ति इति ज्ञानद्वयोरनन्तरमित्यर्थः, विरोधज्ञान इति सतीति  
शेषः, विरोधज्ञानश्च कचिदस्तीतिज्ञानम् एकचक्षणावच्छिन्नं कात्सहसित्वसम्बन्धेन सविषय-  
गृहास्तित्वविरोधिगृहास्तित्वाभावविषयकज्ञानवदिति ज्ञानं, तदेव अर्थापत्तिरूपं प्रमाणं,  
तच्च कचिदस्तीतिज्ञानस्य गृहातिरिक्तास्तित्वविषयकत्वकल्पनया अविरोधोपपादकं भवति,  
अविरोधाय अविरुद्धविषयकत्वाय, गेहान्यविषयतेत्यादि, कचिदस्तीत्यस्य कचिदस्तीति ज्ञानस्य,  
गेहान्यविषयता गृहातिरिक्तास्तित्वविषयकत्वम्, अर्थापत्तिः अर्थापत्तिप्रयोज्येत्यर्थः । मतं  
दूषयति तदपीति, न हीत्यादि मानयोः कचिदस्तीति-गेहेनास्तीतिज्ञानयोः न वास्तवो-  
विरोधः न वस्तुगत्या विरुद्धविषयकत्वं, तथा सतीति वास्तवविरोधे सतीत्यर्थः, भज्येत  
नोत्पद्येत, तथाच समानप्रकारकविरोधिज्ञानस्य प्रतिबन्धकतया एकधर्मिणि गृहास्तित्व-  
ज्ञान-गृहास्तित्वाभावज्ञानयोः निधोविरोधेनासम्भव इति भावः । ननु विरोधज्ञानस्य  
विषयभेदव्यवस्थापकत्वप्रवादः कथं सङ्गच्छते इत्यत आह विरोधज्ञानस्येति, एकचक्षणा-  
वच्छिन्नं कात्सहसित्वसम्बन्धेन विरोधिज्ञानवत्स्वरूपापाद्यकापत्तिविशेषेत्यर्थः, विषयभेदव्यव-  
स्थापकत्वं विरोधिज्ञानप्रतिबन्धज्ञानाविषयविषयकत्वप्रतिपादकत्वं, विरोध इति देवदत्तो  
गेहे नास्तीति प्रमाणास्तीति देवदत्तः कचिदस्तीति यथार्थज्ञानमित्यर्थः भिन्नविषयका इति  
देवदत्तधर्मिक-गृहान्यहसित्वप्रकारक इत्यर्थः, एकविषयतायामिति एकचक्षणावच्छिन्नं कात्स-  
हसित्वसम्बन्धेन देवदत्तो गेहे नास्तीतिप्रमाविशिष्ट-देवदत्तधर्मिकगृहास्तित्वप्रकारकप्रमात्वे  
इत्यर्थः, ईदृशविशिष्टप्रमात्वम् आह्वयज्ञाने प्रसिद्धम् । विरुद्धत्वे सतीति एकचक्षणा-  
वच्छिन्नं कात्सहसित्वसम्बन्धेन देवदत्तो गेहे नास्तीतिविरोधिप्रमावत्स्वरूपापाद्यकापत्ति-



भावेऽपि च व्याप्तिग्राहकमानस्य वज्रि साधकत्वमर्थापत्तेरित्यनुमान-  
विलोपः स्यादिति ॥ १८ ॥

अनुपलब्धिस्य नेश्वरे बाधिकेति योग्यादृष्टिरित्यादिनोक्तम्,  
वस्तुतोऽनुपलब्धिर्मनान्तरमेव नेत्याह,—

विशेष्यत्वे सतीत्यर्थः, एकविषयतायामित्यत्र सप्तम्यर्थः प्रयोज्यत्वं, तस्य च विरुद्धत्वपदार्थ-  
घटकापत्तावन्यत्र, तथाच निरुक्तैकविषयत्वरूपापादकाधोन-निरुक्तविरुद्धत्वरूपापादकापत्ति-  
विशेष्यत्वे सतीति समुदितायः। आपत्तिय देवदत्तो गृहे नास्तीति प्रमासमान-  
कालीनं देवदत्तः कचिदस्तीति यथार्थज्ञानं यदि देवदत्तो गृहे नास्तीति प्रमासमानकालीन-  
देवदत्तधर्मिकगृहहस्तित्वप्रकारकप्रमा स्यात् तदा एकचक्षणावच्छिन्नैकात्म्यहस्तित्वसम्बन्धेन  
देवदत्तो गृहे नास्तीति विरोधिप्रभावत्वं स्यादित्येवंरूपा। आपत्तौ बाधस्यानुगुणत्वात् तादृश-  
विरोधाभावे तात्पर्यमिति भावः। सिद्धत्वादिति किञ्चिद्विशेषहस्तित्वप्रकारक-देवदत्त-  
विशेष्यकप्रमात्वादित्यर्थः। प्रसिद्धे वाप्यसौ समः इत्यत्र वाशब्दस्य अव्ययानामनेकार्थ-  
त्वात् अर्थमाह अन्यथेति विरोधज्ञानस्य अर्थापत्तिविषया विषयभेदव्यवस्थापकत्वं इत्यर्थः,  
मूले प्रसिद्धे इति सर्वांनुभवसिद्धेऽप्यनुमान इत्यर्थः, असौ अर्थापत्तिप्रमाणभेदः, समः  
तुल्ययुक्त्या प्रसक्त इत्यर्थः, तथाच अनुमानजन्यफलस्य अर्थापत्तिप्रसाधेन सिद्धिसम्भवे  
अनुमानस्य प्रमाणान्तरत्वं भज्येत इति भावः। ईदृशमेवार्थं विवक्ष्यतीति टीकायां धूमो-  
ऽपीति। विरोधग्राह्यार्थापत्तित्वे प्रतिबन्धिमाह अर्वांग्भागवच्छेदेनेति, तथाच अर्वांग्-  
भागावच्छेदेन वज्रेरनुपलब्धिः वज्रभावाग्राहकमानं, धूमस्य व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मत्वेन ज्ञायमानः  
वज्रिग्राहकमानम् इति प्रमाणयोर्विरोधगृहे तत एवापरभागावच्छेदेन वज्रिज्ञापनं स्यात्  
इत्यर्थापत्तिरनुमानविलोपिका स्यादिति भावः। एवञ्च सर्वजनसिद्धानुमानेनैवोपपत्तौ  
नार्थापत्तिः प्रमाणान्तरमिति फलितार्थः। यदि सामान्यसामग्री एकविशेषवाच्यगृहे  
तत्सामयोसत्त्वे वा अपरविशेषविषयकमेकज्ञानं जनयति न तु सामग्र्योः विरोध इति नानुमान-  
वैयर्थ्यं, तदा कचिदस्ति गृहे नास्तीत्यत्रापि सामान्यसामग्र्या गृहान्यहस्तित्वविषयकमेकमेव  
ज्ञानं जनयितव्यमिति भावः ॥ १८ ॥

मूले प्रतिपत्तेरिति योग्यानुपलब्धिरूपप्रमाणजन्याभावप्रतीतेरित्यर्थः, इन्द्रियकरणक-  
त्वस्य साध्यत्वं प्रकरणलब्धम्, अत्र हेतुः अपारोक्ष्यः, प्रयोगस्तु योग्यानुपलब्धिजन्याभाव-  
प्रतीतिः इन्द्रियकरणजन्या अपारोक्ष्यात् घटप्रत्यक्षवत् इति, तथाच तादृशप्रतिपत्तेः



प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपपत्त्यात् ।

अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥ २० ॥

यत्ताज्ञातानुपलब्धिः कारणं तत् प्रत्यक्षं, ज्ञातानुपलब्धिजन्या-  
भावज्ञानस्यानुमानत्वात् जन्यापरोक्षज्ञानस्य इन्द्रियजन्यत्वात्,  
अपरोक्षत्वञ्च ज्ञानकरणकान्यत्वं, घटादिप्रत्यक्ष इव घटाभावाध्य-  
क्षेऽपीन्द्रियस्यान्यानुपपत्तीणत्वात् करणत्वं अधिकरणप्रत्यक्षाभावेऽपि

प्रत्यक्षरूपत्वं न तु प्रत्यक्षमित्रविजातीयप्रभितिरूपत्वम् । न च स्वमते योग्यानुपलब्धि-  
जन्याभावप्रतिपत्त्यपसिद्ध्या पक्षासिद्धिरिति वाच्यम् । योग्यानुपलब्धेरकरणत्वेऽपि सह-  
कारिकारणत्वस्य स्वमतेऽपि स्वीकारात् करणत्व एव विवादात् । ननु तादृशप्रतिपत्तेः  
कथं नानुमितित्वम् इत्यत आह टीकायां यमेत्यादि, तथाच अनुपलब्धेरिन्द्रियविषया  
करणत्वे ज्ञातत्वस्यापेक्षणीयतया अज्ञातानुपलब्धिजन्याभावप्रतीतेरनुमितित्वासम्भवा-  
दिति भावः । न च अभावप्रतीती अनुपलब्धिः ज्ञातैवोपयोगिनी इति तज्जन्यप्रतीते-  
रनुमितित्वं सम्भवतीति वाच्यम् । तथा सति अनुपलब्धेः उपलब्ध्यभावरूपतया तज्-  
ज्ञानेऽपि ज्ञातानुपलब्धेरपेक्षणीयत्वे अनवस्थाप्रसङ्गात् । नन्वपरोक्षत्वं प्रत्यक्षत्वमेव  
तत्कथम् इन्द्रियजन्यत्वसाधकम् इन्द्रियजन्यत्वस्यैव प्रत्यक्षत्वसाधकत्वात् अतः अपरोक्षत्व-  
पदार्थमाह अपरोक्षत्वञ्चेति ज्ञानकरणकान्यत्वमिति जन्यत्वे सति ज्ञानकरणकान्यत्वमित्यर्थः,  
जन्यत्वविशेषणात् ईश्वरप्रत्यक्षे न व्यभिचारः । ननु व्यापारेण अन्यथासिद्धत्वात् तादृश-  
प्रतिपत्तौ इन्द्रियस्य कथं कारणत्वमित्यत आह सूत्रे इन्द्रियस्यानुपपत्त्यादिति, टीकायाम्  
अन्यानुपपत्तीणत्वादिति व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिरिति नियमात् व्यापारेण  
इन्द्रियस्य अन्यथासिद्धत्वादिति पर्यवसितार्थः, अन्यथा घटादिप्रत्यक्षेऽपि व्यापारेण  
इन्द्रियस्य अन्यथासिद्धत्वप्रसङ्गात् इति । न च ज्ञानसामान्ये मनसो हेतुत्वात् मनो-  
जन्यत्वमादाय सिद्धसाधनमिति वाच्यम् । इन्द्रियजन्यत्वपदेन इन्द्रियत्वावच्छिन्नजन-  
कतानिरूपितजन्यत्वस्य ज्ञानत्वानवच्छिन्नेन्द्रियजन्यत्वस्य वा विवक्षितत्वात् । करणत्वम्  
इन्द्रियनिष्ठकरणतानिरूपकत्वम् इन्द्रियजन्यत्वमिति यावत्, अतः प्रतिपत्तिरूपपक्षे  
साध्यस्य सङ्गतिः, एवम् इन्द्रियस्यानुपपत्त्यादित्यस्य अन्यथासिद्धेन्द्रियव्यापारजन्यज्ञा-



शब्दादिध्वंसस्य वायै रूपाभावस्य च ग्रहात् अधिकरणग्रहेऽप्यनु-  
पक्षयात्, अज्ञातकरणजन्यज्ञानत्वेन इन्द्रियजन्यत्वानुमानाच्च ।  
भावावेशाच्च चेतसः मनसः, अस्मदादिवाद्यानुभवस्य भावभूतकरण-  
सचिवमनोजन्यत्वनियमात् नानुपलब्धिः कारणं किन्त्विन्द्रिय-  
मेवेति ॥ २० ॥

दित्यर्थकत्वात् तादृशपक्षे हेतोः सत्तुमिति ध्येयम् । ननु अभावप्रत्यक्षमवश्यं किञ्चि-  
द्धर्मिविशेष्यकत्वेन धर्मिप्रत्यक्षात्मकमपि धर्मिप्रत्यक्षं अवश्यमिन्द्रियसन्निकर्षजन्यं त्वयापि  
वाच्यं तथाच व्यापारेण इन्द्रियस्य अनन्यथासिद्धत्वेऽपि अधिकरणप्रत्यक्षार्थमिन्द्रियस्या-  
पेक्षणीयत्वेन अधिकरणग्रहेण अन्यथासिद्धत्वं स्यादित्याशङ्क्य निराकरोति अधिकरणप्रत्यक्षा-  
भावेऽपीति अधिकरणलौकिकप्रत्यक्षाभावेऽपीत्यर्थः, शब्दध्वंसस्येति आकाश इत्यादिः,  
तथाच आकाशं शब्दध्वंसवदित्यतीन्द्रियविशेष्यकप्रत्यक्षे अधिकरणभानम् उपनीतमाना-  
त्मकमवश्यमङ्गीकार्यम् इति तत्र अधिकरणप्रत्यक्षार्थम् इन्द्रियस्यानपेक्षणीयतया अधि-  
करणप्रत्यक्षेण इन्द्रियस्यानन्यथासिद्धत्वमिति भावः । ननु भूतलं घटाभाववदिति प्रत्य-  
क्षस्य भूतलांशेऽपि लौकिकतया तत्र तत्प्रत्यक्षार्थम् इन्द्रियस्यापेक्षणीयत्वेन इन्द्रिय-  
मन्यथासिद्धमिति तदनुपलब्धिकरणताया आवश्यकत्वे सर्वत्रैवानुपलब्धिकरणकत्वमभाव-  
प्रत्यक्षस्येतीन्द्रियमन्यथासिद्धमित्यत आह अधिकरणग्रहेऽपीति कचिदभावप्रत्यक्षस्य अधि-  
करणलौकिकप्रत्यक्षरूपत्वेऽपि, अनुपक्षयादिति तथाच अधिकरणग्रहस्य व्यापारतया  
तेनान्यथासिद्धाभावादन्यथा घटादिप्रत्यक्षेऽपि निर्विकल्पकादिनेन्द्रियस्यान्यथासिद्धि-  
प्रसङ्गादिति भावः । ज्ञायमानलिङ्गस्य अनुमितिकरणतावादिन आचार्यस्य मते अनु-  
मितिः ज्ञानकरणकान्तत्वेन ज्ञानकरणकान्तत्वात्मकापरोक्षत्वरूपहेतोः अनुमितौ इन्द्रियजन्यत्व-  
व्यभिचारित्वम् अतः उभयमते इन्द्रियजन्यत्वसाधकं हेतुमाह सूत्रे अज्ञातकरणत्वाच्चेति,  
एतदेव विहणोति टीकाशाम् अज्ञातकरणजन्यज्ञानत्वेनेति अज्ञातकरणजन्यज्ञानत्वं ज्ञाय-  
मानत्वावच्छिन्नकरणतानिरूपितकार्यतावद्विभक्तत्वे सति ज्ञानत्वावच्छिन्नकरणतानिरूपित-  
कार्यतावद्विभक्तत्वे सति च जन्यत्वं, तथाच ज्ञायमानलिङ्गस्यानुमितिकरणत्वे लिङ्गज्ञानस्य  
अनुमितिकरणत्वे वा अनुमितौ तादृशहेतोरसत्त्वान्न व्यभिचार इति भावः । इन्द्रिय-  
जन्यत्वसाधने हेतुत्वरमाह, भावावेशाच्च चेतस इति, अस्मदादिवाद्यानुभवस्येति ईश्वर-



साधकान्तरमाह,—

प्रतियोगिनि सामर्थ्याद्व्यापाराव्यवधानतः ।

अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥२१॥

इन्द्रियाणि करणमिति साध्यं, प्रतियोगिग्राहकत्वात्, यथानुमानं घटस्येव तदभावस्यापि ग्राहकं तद्वदिन्द्रियमपि । ननु प्रतियोगिग्राहकत्वमतन्त्रं, अनन्यथासिद्धत्वस्योपाधित्वात्, आश्रयग्रहेण इन्द्रियस्यान्यथासिद्धेरित्यत आह व्यापाराव्यवधानत इति व्यापारेणाधिकरणप्रत्यक्षेण इन्द्रियस्यान्यथासिद्धभावात्, अन्यथा संयोगिनश्चक्षुरादिकमन्यथासिद्धं भावग्रहेऽपि स्यात् । किञ्चाभावभ्रमस्य

प्रत्यक्षवारणाय अक्षदादौति ज्ञेयेति तदर्थः, सुखाद्यनुभवे व्यभिचारवारणाय वास्येति । आवेशपदस्य सहकारितापरत्वमभिप्रेत्य समुदितार्थमाह भावभूतेति अत्र भूतपदं स्वरूपा-र्थकं, भावस्वरूपकरणसहकृतमनोजन्यत्वादिति समुदितार्थः । शरीरादौ असाधारण-कारणत्वरूपकरणत्वाभावात् न शरीरादिकमादाय सिद्धसाधनम् । तथाचायं प्रयोगः जन्या वास्तविकताभावप्रतिपत्तिः भावस्वरूपकरणसहकृतमनोजन्या जन्यत्वे सति वास्तानुभवत्वात् घटादिप्रत्यक्षवदिति । अत्रावच्छेदावच्छेदेन साध्यसिद्धेर्दृश्यत्वात् अनुपलब्धिजन्यत्वेनाभिमतयामपि अभावप्रतिपत्तौ इन्द्रियजन्यत्वसिद्धेः अनुपलब्धिर्नाभावग्राहिकेति ध्येयम् ॥ २० ॥

इन्द्रियाणीति पञ्चनिर्देशः, साध्यमिति प्रकरणादिति शेषः । प्रतियोगिनि सामर्थ्यात् इति मूलं विवृणोति प्रतियोगिग्राहकत्वादिति, तथाच यत् यत्प्रतियोगिग्राहकं तत् तदभावग्राहकम् इति सामान्यव्याप्त्या वहिरिन्द्रियाणामभावग्राहकत्वं साधनीयम्, अत्र दृष्टान्तमाह यथानुमानमित्यादि, न च यवानुमाने प्रतियोगिग्राहकत्वं तन्नाभावग्राहकत्वाभावात् उक्तानुमानस्य व्यभिचार इति वाच्यम् । चक्षुरादिकम् अभावग्राहकवृत्तिभावग्राहकवृत्तिजातित्वात् शब्दत्ववत् इत्यनुमाने तात्पर्यात् । न चेदमप्रयोजकं, यदीदृशनिमित्तो न स्यात् तदा भावग्राहकशब्दजातीयं प्रमाणमपि ज्ञाभावमावेदयेत् इति तर्कस्य प्रयोजकत्वात् । व्यापाराव्यवधानत इत्यस्य व्यापारेणान्यथासिद्धभावादित्यर्थः



दुष्टकरणजन्यत्वमवश्यं वाच्यं, दोषश्चेन्द्रियादिनिष्ठ एव, अनुपलब्धे-  
र्दोषवत्त्वाभावात्, पित्तादिना इन्द्रियस्यैव दुष्टत्वात्, तदिदमुक्तम्  
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिति । अधिकरणाभावयोर्विशिष्टधीर्नेन्द्रियजा  
अभावधीत्वात्, नानुपलब्धिकरणजा भावधीत्वादतोविशिष्ट-  
ग्राहीन्द्रियं स्वीकार्यं तदिदमुक्तं विकल्पनात् विशिष्टविषयक-  
ज्ञानात् ॥ २१ ॥

नन्वनुपलब्ध्या घटाभावस्य ज्ञानं ततश्च घटाभाववद्भूतलमिति  
ज्ञानं, घ्राणजसौरभोपनयानन्तरं सुरभि चन्दनमिति चाक्षुषवत्

विशेषणं ज्ञापयितुं अवतारणिकामाह नन्विति, अतन्त्रमिति अभावग्राहकत्वे न तन्त्र-  
मित्यर्थः, उपपत्तिरिति अभावग्राहकत्वे तन्त्रत्वादित्यर्थः । व्यापारिणाधिकरणग्रहेण  
व्यापारिण इन्द्रियस्य अन्यथासिद्धित्वे प्रतिबन्धिमाह अन्यथेति । अभावधमस्य दुष्टकरण-  
जन्यत्वात् अनुपलब्धेः स्वरूपतो दुष्टत्वाभावात् पित्तादिना दुष्टमिन्द्रियं तत्करणमित्याह  
किञ्चेति, अभावधमस्य शब्दादौ द्रव्याभावधमस्य, अवश्यं वाच्यमिति तथाच शब्द-  
धर्मिकश्चैत्याभावधमः दुष्टकरणजन्यः भवत्वात् इत्यनुमानेन अभावधमस्य इन्द्रियजन्यत्व-  
मिहो यत् यदधमकरणं तदेव तत्प्रमाकरणं रूपप्रमाकरणचक्षुर्वदिति सामान्यव्याप्या  
अभावप्रमायामपि इन्द्रियस्य करणत्वसिद्धिः सुतरां कुत्रापि अभावप्रतिपत्तौ अनुपलब्धेः  
न करणत्वसिद्धिरिति भावः । घटाभाववद्भूतलमिति विशिष्टबुद्धिः नेन्द्रियजन्या अभाव-  
बुद्धित्वात्, नानुपलब्धिकरणा भावबुद्धित्वात्, नोभयजन्या अनुपलब्धिकरणाभाववच्छेदकत्वेन  
सिद्धवैजात्येन सह इन्द्रियजन्यतावच्छेदकत्वेन सिद्धवैजात्यस्य सङ्करप्रसङ्गादतः अनुप-  
लब्धेरभावग्रहे सामर्थ्येऽपि भावग्रहे सामर्थ्याभावात् इन्द्रियस्य सन्निकर्षद्वारा भावग्रहे  
अभावग्रहे च सामर्थ्यात् इन्द्रियस्यैव तादृशविशिष्टबुद्धिकरणं नानुपलब्धिः एक-  
जातीयज्ञानस्य एकजातीयकरणजन्यनियमात् इत्येवं विकल्पनादिति मूलतात्पर्यं  
वर्णयति अधिकरणाभावयोरिति । विशिष्टग्राहीन्द्रियं स्वीकार्यमिति, तथाचाद्यं  
प्रयोगः इन्द्रियम् अभावलीकितविषयकग्रहकरणम् अभावविशिष्टज्ञानीधर्मिविष-  
यताप्रयोजकत्वादित्येवंरूपः । न अधिकरणाभावयोर्विशिष्टधीः नेन्द्रियजा अभाव-  
धीत्वादित्यनुमानं बाधकमिति वाच्यम् । तादृशानुमानस्याप्रयोजकत्वादिति ॥ २१ ॥



इत्यभावग्राहिकानुपलब्धिः कारणतया वाच्या निर्विकल्पकविषयी-  
कृत एव इन्द्रियेण सविकल्पकविषयतया गृह्यते तथा दर्शनात्  
अभावेनेन्द्रियप्रत्यासत्तेरभावात् कथं वा प्रत्यक्षत्वं, विशेषणतायाः  
सम्बन्धान्तरगर्भत्वात् अवश्यकृतकारणताकानुपलब्धेरेव कारणत्वं  
नेन्द्रियस्येत्यत्राह—

अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात् ।

प्राप्तान्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः ॥ २२ ॥

अवच्छेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहस्याभावप्रत्यक्षहेतुत्वात् नियमतः  
सविकल्पकज्ञानसामग्रीसत्त्वात् निर्विकल्पकत्वं, घटादिग्रहे तु  
निर्विकल्पकमेव प्रथमतः, विशिष्टज्ञानहेतुविशेषणज्ञानाभावात्,

अनुपलब्ध्यादि तथावादे अनुपलब्ध्या घटाभावज्ञानं ततः तादृशज्ञानरूपोपपन्न-  
सन्निकर्षात् अभावांशे अलौकिकमानात्मक-घटाभाववद्भूतत्वमिति विशिष्टबुद्धिसम्भवात्  
न विशिष्टबुद्धानुपपत्तिरिति भावः । विशेषणीभूताभावांशेऽलौकिकमानं दृष्टान्तेन  
द्रव्यमिति प्राणजिति । तथा दर्शनादिति घटादिविशिष्टबुद्धौ निर्विकल्पकविषयोभूत-  
स्यैव घटादेर्मानदर्शनादित्यर्थः । तथाच अभावस्य निर्विकल्पकास्त्रीकारे इन्द्रियमात्रेण  
तद्विशिष्टबुद्ध्यसम्भव इति भावः । नन्विन्द्रियैवाभावनिर्विकल्पकमुत्पत्स्यते नानुपलब्ध्या  
इत्यत्र आह अभावेनेन्द्रियप्रत्यासत्तेरिति, नन्वभावस्य संयोगादिसम्बन्धवाधात् विशेषणता-  
रूपः सम्बन्धः कल्प इत्यत्र आह विशेषणताया इति, सम्बन्धान्तरगर्भत्वादिति किञ्चित्-  
सम्बन्धावच्छिन्न-किञ्चिदेशनिरूपितहस्तिस्वरूपत्वादित्यर्थः, तथाचाभावस्य सम्बन्धान्तरवाधात्  
विशेषणताया अपि बाध इति भावः । अवश्यकृतमिति अभावनिर्विकल्पकते भवतापि  
अवश्यकृतकारणताकानुपलब्धेरित्यर्थः, कारणत्वं विशिष्टबुद्धावपि कारणत्वम् । अवच्छेद-  
ग्रहध्रौव्यादिति मूलं विवक्ष्यति अवच्छेदग्रहस्येति, नियमत इति प्रतियोगिज्ञानस्य  
अभावज्ञानात् पूर्वमपेक्षणीयत्वे प्रतियोगिज्ञानरूपविशेषणज्ञानात् नियमतो विशिष्ट-  
बुद्धिकारणसत्त्वावादित्यर्थः, प्रौव्यादिति पञ्चमर्थान्वयानुरोधेन पूरयति न निर्विकल्पकत्व-  
मिति । तात्पर्यार्थं स्फुटयितुमाह घटादिग्रहे त्विति विशेषणज्ञानाभावादिति, तथाच



प्रतियोग्यनुपहितस्याभावस्य भानाभ्युपगमे तु अभावस्यापि निर्विकल्पकविषयतेति सिद्धसाधनम् । सम्बन्धान्तरेऽनवस्थानात् स्वरूपमेवाभावस्याधिकरणेन सम्बन्धः, वैशिष्ट्यस्याभावसम्बन्धस्याङ्गोक्तस्यापि सम्बन्धधारायामनवस्थानात् स्वरूपसम्बन्धस्वीकारस्यावश्यभावात्, इन्द्रियसम्बन्धविशेषणताया घटाभावादिप्रत्यक्षे सन्निकर्षतया कल्पनात् । न चेदेवं, तदाऽनुपलब्धिकरणतापक्षेऽपि अन्यप्रकारोदुर्घटः, तथाहि सर्वैरेव प्रमाणैः परस्परया निर्विकल्पकविषय एव गृह्यते, अनुमानादावपि वक्त्रादेः पूर्वं कदाचिन्निर्विकल्प-

यत्र प्रकारान्तरेण विशेषणज्ञानमस्ति तत्र न निर्विकल्पकापेक्षा इति इन्द्रियप्रयोज्यप्रकारता निर्विकल्पकप्रयोज्येतिनियमः येन निर्विकल्पकाप्रयोज्यत्वेनाभावविषयतयाम् इन्द्रियप्रयोज्यत्वाभावः साधनीय इति भावः । अप्रैत्ये सिद्धसाधनमिति मूलं विवृणोति प्रतियोग्यनुपहितस्येति सिद्धसाधनमिति तथाचायं भावः अभावबुद्धिसामान्यं प्रति प्रतियोगियद्वयस्य हेतुत्वे अभावनिर्विकल्पकासिद्धिः प्रतियोगिज्ञानरूपविशेषणज्ञानादेव नियमतः प्रतियोगिविशिष्टाभावबुद्ध्यादयात्, प्रतियोगिज्ञानस्याहेतुत्वे अभावनिर्विकल्पकसत्त्वेऽपि इन्द्रियादेव तदुत्पत्तिः सम्भवति । ननु अभावे इन्द्रियसम्बन्धरूपसन्निकर्षासम्भवात् कथमिन्द्रियेण अभावनिर्विकल्पकसम्भव इत्यत्र आह मूले प्राक्तान्तरेऽनवस्थानादिति, एतन्मूलं विवृणोति टीकायां सम्बन्धान्तरेऽनवस्थानात् इति, सम्बन्धान्तरे स्वरूपातिरिक्तसम्बन्धस्याभावसम्बन्धत्वे, अनवस्थानादिति यथा संयोगसम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरं समवायः तथा अतिरिक्ताभावसम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरम् अवश्यमङ्गीकर्तव्यम् एवं तस्य तस्यापि इत्यनवस्थाप्रसङ्गात् । स्वरूपमेवेति, तथाच स्वरूपसम्बन्ध नातिरिक्तः किन्तु तत्तत्कालावच्छिन्न-तत्तद्देशस्वरूप एव । न च स्वरूपसम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरम् अवश्यवक्तव्यम् एव तस्य तस्यापीत्यनवस्था तदवस्थैवेति वाच्यम् । स्वरूपसम्बन्धस्य सम्बन्धान्तरं स्वात्मकमेव नातिरिक्तं इत्यनवस्थाविरहात् । वैशिष्ट्यनाम्नोऽतिरिक्ताभावसम्बन्धस्य स्वीकारेऽपि यत्सम्बन्धधारायाम् अनवस्थाप्रशयेन तादृशवैशिष्ट्यरूपसम्बन्धस्य सम्बन्धः स्वरूपसम्बन्ध एव नातिरिक्तः इति स्वरूपस्य सम्बन्धत्वे अवश्यस्वीकाव्य अभावस्य स्वरूपसम्बन्ध एव इति कल्पनमुचितमित्याशयेनाह वैशिष्ट्यस्येति । इन्द्रियसम्बन्धविशि-



कस्त्रीकारात्, घटाभाववद्भूतत्वमित्यादिविशिष्टप्रत्ययबलात् अभा-  
वेनाधिकरणस्य प्राप्तेर्भवतापि स्त्रीकारात् ॥ २२ ॥

स्तवकार्यसंग्राहकस्तोक्तमाह, —

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरोदूरे विरोधोदयः

प्रायोयन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते ।

तं सर्वानुविधेयमेकमसमखच्छन्दलीलोत्सवम्

देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

इति तृतीयः स्तवकः ।

यस्येश्वरस्य

मुखनिरीक्षणैकविधुरैर्धर्मिग्राहकमानवाधितैः

प्रत्यक्षादिभिरात्मैव नासाद्यते, विरोधोदयो यतोऽधरः अतएव

पणताया इति इन्द्रियसम्बद्धानुयोगिकस्वरूपसम्बन्धेत्यर्थः । न चेदन्तोऽपि दुर्घटः  
इति मूलं विवक्ष्यते, नचेदेवमिति, तथाचार्य भावः यत् प्रमाणं भवति तत् साक्षात्  
परस्परया वा निर्विकल्पकविषयग्राहकं भवति इति नियमात् अनुमानादिकमपि परस्पर-  
रया निर्विकल्पकविषयमेव ग्राहयति, एवञ्च अनुपपत्तिः यदि प्रमाणं स्यात् तदा तस्याः  
साक्षात् परस्परया वा निर्विकल्पकविषयीभूतस्याभावस्य ग्राहकत्वमुचितम् न तु निर्वि-  
कल्पकमात्रजनकत्वमिति । न चानुपलब्ध्या निर्विकल्पकमेव ज्ञायते, प्रतियोग्यनुपहि-  
तस्य तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् शक्यत्वे वा किमुपराड्निन्द्रियेणेति । घटाभाववद्भूतत्वमिति  
विशिष्टप्रत्ययानुरोधेनापि अभावस्य अधिकरणेन सह सम्बन्धः अवश्यमङ्गीकार्य इत्याह  
घटाभाववद्भूतत्वमित्यादौत्वलमधिकेन ॥ २२ ॥

मुखनिरीक्षणेति मुखनिरीक्षणं स्वरूपग्रहः स चाव परमेश्वरानुसन्धितग्रहः,  
तद्विधुरैः तदाधितैरित्यर्थः, विधुरपदं बाधितपरम् । प्रत्यक्षादिभिरिति ईश्वराभाव-  
साधकत्वेनोपपत्तैः योग्यानुपलब्ध्यादिभिरित्यर्थः, आत्मैव ईश्वराभावबोधप्रयोजकताव-  
च्छेदकस्वरूपः स्वभावः, स च कश्चित् सान्नीत्यं लक्षिणाप्रमाणज्ञानाभावादिसम्बन्धः,



दूरे, सर्वमनुविधेयं वश्यं यस्येति, असमा स्वच्छन्दा चेतनान्तरा-  
प्रयोज्या या लीला सैवोत्सवो यस्य स तथा, दुःखाभावैकनिदानत्वात्,  
अतएव उद्भवदतिशब्दाः, देवानामपि देवं सुख्यं, प्रपद्यामहे ॥ २३ ॥

इति तृतीयस्तवकव्याख्यानम् ।

### चतुर्थः स्तवकः ।

सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् इति तुरीयविप्रतिपत्तिः । ईश्वरो  
न प्रमाणं तज्ज्ञानस्यागृहीतग्राहित्वाभावेन प्रमात्वाभावात्, ईश्व-  
रस्य प्रमाकर्तृत्वं प्रमाकरणत्वञ्च नास्तीति अप्रमाणपुरुषस्य वचः  
कः अद्विधादित्यत्राह,—

विरोधोदयः ईश्वराभावोदधेत्यतिः, अधर इति नीत्यद्यत इत्यर्थः । दूरे शङ्कास्यदोऽपि  
नेत्यर्थः, प्रायःपदं बाहुल्यार्थकं, तथाच ईश्वराभावसाधकत्वेनोपन्यस्तानि सर्वाणि प्रमा-  
णानि धर्मिणादृक्मानवाधितानीति भावः । खीला सृष्ट्यादिरूपा, उत्सवः अस्मदादीनां  
आनन्दजनकित्यर्थः । अत्र हेतुमाह दुःखाभावैकेति अस्मदादीनामित्यादिः । उद्भव-दतिशब्दाः  
उद्भवन्ती अतिशब्दा मोक्षरूपफलजनकज्ञानविषयात्मतत्त्वबोधकागमप्रामाण्यगृही येषां ते ।  
प्रपद्यामहे श्रवण-मननादिभिराराधयाम इति ॥ २३ ॥

इति श्रीकामाख्यानाद्य-तर्कवागीशविरचितायां कुसुमाञ्जलिव्याख्याविहरी

तृतीयस्तवकव्याख्याविहतिः समाप्ता ।

चतुर्थीं विप्रतिपत्तिमुक्त्यापश्यति, सत्त्वेऽपीति, तथाचेयं विप्रतिपत्तिः, ईश्वरः प्रमाणं  
न वेति, अत्र विधिकोटिः नैयायिकानां, निषेधकोटिः दिगम्बराणाम् । अप्रमाणत्वे  
साधकं दर्शयति ईश्वरो न प्रमाणमिति, अगृहीतग्राहित्वाभावेनेति, अगृहीतग्राहित्व-



अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।

यथार्थोऽनुभवोमानमनपेक्षतयेष्यते ॥ १ ॥

अपूर्वदृक्त्वं अगृहीतग्राहित्वं न प्रमालक्षणं धारावहननुद्ध-  
व्याप्तेः इदं रजतमितिभ्रमातिव्याप्तेश्च । स्वसते लक्षणमाह  
यथार्थ इति । अनपेक्षतयेति स्मृतेर्जनकानुभवसमानविषयकतया  
तत्प्रामाण्याधीनप्रामाण्यकतया सापेक्षत्वात् तत्र न प्रमाव्यवहार-  
स्तान्त्रिकाणामिति ॥ १ ॥

च स्वीत्यनिकालीनध्वंसप्रतियोगिखसमानाधिकरणज्ञानाविषयविषयकत्वम्, एतदेव पूर्वपक्षिणां  
प्रमाज्ञानलक्षणम्, ईश्वरज्ञानस्य नित्यत्वात् सर्वविषयकत्वाच्च एतादृशलक्षणासम्भवात्  
न प्रमालम् । न चेदृशलक्षणस्य ईश्वरज्ञाने अव्याप्तत्वात् प्रमायाः लक्षणान्नरं  
वाच्यमिति वाच्यम् । स्मृतेरपि प्रमालप्रसङ्गात् । प्रमाणशब्देन कर्तुं कारणव्युत्पत्त्या  
प्रमाकर्तृत्वं प्रमाकरणत्वञ्च बोध्यते तद्वयमपि ईश्वरे नास्तीत्याह, ईश्वरस्तेति, प्रमाकर्तृत्वं  
प्रमाश्रयत्वम् । मूले अपूर्वदृगिति अपूर्वस्य अगृहीतस्य दृक् दर्शनं ज्ञानमिति यावत्, भाव-  
परोनिर्देशः, तथाच अपूर्वदृक्त्वम् अगृहीतग्राहित्वम् अलक्षणं न प्रमालक्षणम्, अप्राप्तेः  
अव्याप्तेः, अधिकप्राप्तेः, अतिव्याप्तेः । टोकायां धारावहननुद्धव्याप्तेरिति, ननु “न सोऽस्ति  
प्रत्ययोलोके यत्र कालो न भासते” इति परेषां सिद्धान्तात् अनुभवमात्रस्य स्वीत्यनि-  
क्षणविषयकत्वात् द्वितीयादिप्रत्ययेऽपि अगृहीतग्राहित्वम् इति चेन्न सर्वत्र ज्ञाने काल-  
भाने मानाभावात् चणानामतीन्द्रियत्वात् सर्वत्र ज्ञाने पूर्वं कालस्योपनयसन्निकर्षे  
प्रमाणाभावाच्च । न च स्वप्रकाशवादिमते पूर्वज्ञानाविषयस्य स्वस्य उत्तरज्ञानेन विषयी-  
करणात् उत्तरज्ञानस्यागृहीतग्राहित्वमिति वाच्यम् । पूर्वज्ञानाविषयस्वातिरिक्तविषय-  
कत्वरूपप्रमालस्य तत्राभावात् । ननु यथार्थानुभववद्वयार्थस्मृतिरपि कथं न प्रमा स्यात्  
यथार्थत्वस्यैव तन्त्रत्वात् अनुभवत्वस्य व्यर्थत्वादित्यत आह, अनपेक्षतयेतीति, तत्प्रामाण्या-  
धीनप्रामाण्यकतयेति स्मृतेः स्वकारणोभूतान्यूनानतिरिक्तविषयकानुभवयथार्थसापेक्षयथार्थ-  
तया, तान्त्रिकानामित्वेति, तथाच स्मृतौ महर्षिणा प्रमालाव्यवहारेण प्रमालक्षणे अनुभवत्व-  
स्योक्तत्वात्, इदं परिभाषामात्रम् । वस्तुतस्तु यथार्थज्ञानत्वमेव प्रमालं, यथार्थत्वञ्च तद्वति  
तत्प्रकारकत्वं, अतः प्रमालमिष्टमेवेति भावः ॥ १ ॥



ननु धारावाहिके नाभ्याप्तिः, ज्ञानेन हि विषयनिष्ठो धर्मः कश्चिज्ज्ञानीयः, अन्यथा ज्ञानस्य विषयं प्रति नियमो न स्यात्, तथाच तमादायागृहीतग्राहिल्वमेव । किञ्च स धर्मस्तदुपादान-ज्ञानजन्यो न वा, आद्ये उपादानज्ञानस्य उपादानविषयतानियमार्थं धर्मान्तरस्वीकारे तत्राप्येवमित्यनवस्था, द्वितीये कार्यत्वं हेतुः तत्रैव उपादानज्ञानजन्यत्वव्यभिचारीति नेश्वरस्य क्षित्यादिकर्तृतया सिद्धिरित्यत्राह,—

स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्वटः ।

सुषटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥ २ ॥

स्वभावविशेष एव विषयतानियामकः, अन्यथा ज्ञातता-

अमस्तु न विशिष्टज्ञानं किन्तु धर्मस्मरणं धर्मिणोऽनुभवः इति ज्ञानव्यं, तत्र धर्मस्मरणं गृहीतग्राहि, धर्मोऽनुभवस्य प्रमात्वमिष्टमेवेति धर्मे नातिव्याप्तिरिति धारावाहिकेऽव्याप्ति-मुद्धरति, नन्विति, विषयनिष्ठो धर्म इति ज्ञातारूपो धर्म इत्यर्थः, अन्यथा ज्ञातारूपधर्मानङ्गीकारे, विषयं प्रति नियमो न स्यादिति किञ्चिज्ज्ञानं किञ्चिद्विषयकमेवेति नियमो न स्यात्, तादृशधर्मस्वीकारे च यज्ज्ञानं यन्निष्ठज्ञातज्ञातजनकं तज्ज्ञानं तन्निष्ठविषयताकमिति नियम उपपद्यते, तथाच घटज्ञानजन्यज्ञातारूपः घटज्ञानसम्बन्धः घटज्ञानविषयतानियामक इति घटज्ञानविषयत्वं घटज्ञानजन्यज्ञातारूपसम्बन्धाश्रये घट एव वर्तते न तु घटज्ञानजन्यज्ञातारूपसम्बन्धानाश्रये पठ इति भावः । तमादायेति तथाच पूर्वज्ञानोत्पन्नज्ञातता स्वसमानकालोत्पन्नद्वितीयादिज्ञाने भासते इति पूर्वपक्षिणां सिद्धान्तात् पूर्वागृहीतां प्रथमज्ञानजन्यज्ञाततामादाय द्वितीय-ज्ञानस्य द्वितीयज्ञानादिजन्यज्ञाततामादाय तृतीयादिज्ञानस्यागृहीतग्राहिल्वरूपं प्रमात्वमिति भावः । ज्ञानस्य विषयनियमार्थं ज्ञातारूपो धर्मः अवश्यं नैयायिकैरपि मत्तव्य इत्यभिमतमानो भट्टः जितिः सकर्तृका कार्यत्वादिति नैयायिकानुमानं द्रष्टव्यं सुपक्रमते किञ्चेति, तदुपादानज्ञानजन्यो न वेति विषयतानियामको यो ज्ञातारूपो धर्मः तस्य किं उपादानज्ञानजन्यत्वं सत उपादानज्ञानसाधयी यच्चरुादिकं तत्सम्बन्धं



धानेऽपि नियमानुपपत्तिः इति स्वभाव एव नियामकस्तत्वेति ।  
किञ्च वर्त्तमानविषये तदुत्पत्तावपि अविद्यमाने विषये ज्ञातताया  
उपादानविरहात् अनुत्पत्तौ विषयतानियमानुपपत्तिरिति स्वभाव-  
एव तत्र नियामक इति ॥ २ ॥

ननु क्रियया कर्मणि किञ्चिज्जननीयमिति व्याप्तेर्ज्ञानक्रिययापि  
विषयनिष्ठो धर्मो जननीय इत्यत्राह,—

इत्यर्थः, अनवस्थेति, तथाच घटज्ञानविषयतानियामको यो घटनिष्ठज्ञातारूपो धर्मः  
तस्य घटरूपोपादानज्ञानजन्यत्वे घटरूपोपादानज्ञानस्य विषयतानियामार्थे ज्ञाततान्तर-  
मवश्यमङ्गीकार्यं एवं तादृशज्ञाततान्तरजनकौभूतोपादानज्ञानस्य विषयतानियामार्थे ज्ञात-  
तान्तरमित्यनवस्थेति भावः । द्वितीय इति घटादिज्ञानविषयतानियामकस्य घटादि-  
निष्ठज्ञातारूपधर्मस्य घटादिज्ञानसामर्थीचक्षुरादिजन्यत्व इत्यर्थः । व्यभिचारीति तथाच  
चित्तिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यत्र सकर्तृकत्वं उपादानगोचरापरोक्षज्ञान-चिकीर्षा-  
कृतिमज्जन्यत्वं एवञ्च उपादानज्ञानादिमज्जन्यत्वसिद्धौ विशेषणीभूतोपादानज्ञानजन्यत्वस्यापि  
सिद्धेः उपादानज्ञानजन्यत्वाभाववति ज्ञातत्वे कार्यत्वस्य वर्त्तमानत्वात् व्यभिचारित्वमिति  
भावः । सूत्रे स्वभावनियमाभावादिति स्वभावस्य नियामकत्वाभावादित्यर्थः, उपकारः ज्ञातता,  
टीकायां स्वभावविशेष एवेति स्वरूपसम्बन्धविशेष एवेत्यर्थः, अन्यथा स्वभावविशेषस्य नियामकत्वा-  
नङ्गीकारे, नियामकस्तत्वेतीति तथाच घट इति ज्ञाने घटे ज्ञातताजन्यते न तु पटे इत्यत्र  
स्वभावस्य नियामकत्वं त्वयाप्यवश्यं वाच्यं एवञ्च विषयत्वे तस्यैव नियामकत्वं किमतिरिक्त-  
ज्ञाततास्वीकारेणैति भावः । सूत्रे सुघटत्वेऽपीत्यादि, अन्यथा स्वभावस्य नियामकत्वाभावे,  
सति विद्यमाने अर्थे विषये ज्ञाततायाः सुघटत्वेऽपि असति अविद्यमाने विषये का गतिः  
गतिर्नास्तीत्यर्थः । तथाच स्वसमवेतसत्तामान्यं प्रति स्वस्य तादात्म्यसम्बन्धेन हेतुतया  
घटादिसमवेतज्ञाततां प्रत्यपि घटादेः तादात्म्यसम्बन्धेन हेतुत्वात् अतीतघटादिस्थले घटादि-  
रूपकारणाभावात् न ज्ञाततासम्भव इति भावः ॥ २ ॥

अनुमानेन ज्ञाततासिद्धिमाशङ्कते नन्विति, इतिव्याप्तेरिति क्रिया कर्मनिष्ठधर्म-  
जनिका क्रियात्वात् यामरूपकर्मनिष्ठसंयोगजनकगमनक्रियावत् इति सामान्यव्याप्ते-  
त्यर्थः । विषयनिष्ठो धर्म इति विषयनिष्ठो ज्ञाततारूपो धर्म इत्यर्थः । न च यामं गच्छ-



अनैकान्तादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया ।

तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिष्ठी ॥ ३ ॥

क्रिया यदि धात्वर्थस्तदा शरेण गगनं युनक्ति इत्यत्र संयोगेन गगननिष्ठकिञ्चिदजननात् अनैकान्तः, यदि करणव्यापारः क्रिया तदापौन्द्रियसंयोगादिना घटादिनिष्ठकिञ्चिदजननात् व्यभिचारः, अथ क्रिया स्पन्दस्तदा ज्ञानस्य स्पन्दानात्मकत्वादसिद्धिः । ननु ज्ञातोघटः साक्षात्कृतोघटः इत्यादि प्रत्यक्षमेव ज्ञाततायां मानमित्यत्राह तद्वैशिष्ट्येति । सर्वत्र विशिष्टज्ञाने विशेषण-विशेष्ये तदुभयसम्बन्धो विषयः, स च सम्बन्धः क्वचित् संयोगादिः क्वचित्तु स्वरूपं, तदिह घटज्ञानमित्यत्रेव घट-ज्ञानयोः स्वरूप एव सम्बन्धः

तौल्यादौ गमनक्रियायां गमरूपकर्मनिष्ठसंयोगरूपफलजनकत्वेऽपि घटं जानातीत्यादौ ज्ञानक्रियायां न घटरूपकर्मनिष्ठफलजनकत्वमिति वाच्यम् । तथा सति घटस्य क्रिया-जन्यफलशालिलरूपकर्मत्वानुपपत्तेः । मूले न च लिङ्गमिह क्रियेति, क्रियेति भावप्रधान-निर्देशः, तथाच क्रियात्वं इदं ज्ञातारूपधर्मे न लिङ्गं मानुमापकम् इत्यर्थः, अत्र क्रियात्वं किं धात्वर्थत्वम्, उत करणव्यापारत्वम्, अथवा स्पन्दत्वं, नाय द्वितीयौ इत्याह अनैकान्तादिति, न तृतीयः इत्याह असिद्धेवेति, तथाच विशेषाभावकूटस्य सामान्या-भावनिर्यायकत्वात् क्रियात्वं न लिङ्गमिति सामान्याभावसिद्धिः । एतदेव विवक्ष्योति टीकायाम् क्रिया यदौल्यादि, क्रिया क्रियात्वं, धात्वर्थः धात्वर्थत्वं, गगननिष्ठेति शरेण-घटं युनक्ति इत्यत्र शरसंयोगरूपक्रियायाः अवयवविभागरूपफलजनकत्वसम्भवात् गगन-पथ्यन्तानुसरणं, तथाच गगनस्य नित्यत्वेन अवयवविभागासम्भव इति भावः । करणव्यापारः करणव्यापारत्वं, क्रिया क्रियात्वं, इन्द्रियसंयोगादिनेति आदिना परामर्शस्य, अति-देशवाक्यार्थस्यूतेः, पदार्थस्यूतेषु परिरुहः । न चेन्द्रियसंयोगेन स्वजन्यज्ञानद्वारा घटादौ ज्ञातताजननात् कथं व्यभिचार इति वाच्यम् । वक्ष्येण घटमाहण्यतीत्यादौ वस्त्वसंयोगेन घटादौ किञ्चिदजननेन व्यभिचारात् । अथ क्रियेति क्रिया क्रियात्वं, स्पन्दः स्पन्दत्वं, ज्ञानस्य ज्ञानरूपपक्षस्य, स्पन्दानात्मकत्वात् स्पन्दस्वरूपहेत्वभावात्, असिद्धिः ज्ञानक्रिया कर्मनिष्ठकिञ्चिद्वर्त्मजनिका क्रियात्वादित्यनुमाने स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः । ज्ञातारूपधर्मे



ज्ञातो घटइत्यत्रापि भासते, अन्यथा इष्टोघटः कतोघट इत्यत्र इष्टता-  
कृततयोरप्यापत्तेः स्वभावसम्बन्धादुपपत्तिसुल्या ॥ ३ ॥

तदुच्यते,--

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।

क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

यथा घटादिना ज्ञाने विशिष्टधीः यथा च क्रिययैव कर्मणां

प्रत्यक्षप्रमाणमाशङ्कते नन्विति, ज्ञाततायां मानमिति तथाच ज्ञातो घट इति प्रत्यक्ष-  
प्रतीती ज्ञातत्वस्य विषयत्वात् प्रत्यक्षमेव तत्र प्रमाणमिति भावः । मूले तद्वैशिष्ट्येत्यादि,  
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशकत्वात् तस्य ज्ञानस्य वैशिष्ट्यप्रकाशकत्वात् विषयतास्वरूपसम्बन्धविषयकत्वात्-  
अधिके ज्ञाततारूपधर्मे, नाध्यचानुभवः, न प्रत्यक्षानुभवः, प्रमाणमिति शेषः । टीकायां  
घटज्ञानमित्येवेति तथाच यथा घटज्ञानम् इति प्रतीती ज्ञाने घटस्य विषयित्वरूपसम्बन्धोभासते  
नातिरिक्तसम्बन्धः तथा ज्ञातो घट इति प्रतीतावपि घटे ज्ञानस्य विषयतारूपसम्बन्धः न त्वति-  
रिक्तज्ञातत्वादिकम् । ज्ञाततास्वीकारे प्रतिबन्धिमाह अन्यथेति ज्ञातो घट इति प्रतीती  
अतिरिक्तज्ञाततामानस्वीकारे इत्यर्थः । इष्टो घट इति प्रतीती यदि स्वरूपसम्बन्ध एव भासते  
न त्वतिरिक्तत्वं तर्हि ज्ञातो घट इत्यत्रापि स्वरूपसम्बन्धो भासते न त्वतिरिक्तज्ञातत्वं,  
युक्तैस्तैरित्याह स्वभावसम्बन्धादिति स्वरूपसम्बन्धादित्यर्थः, तथाच इष्टो घट इत्यादौ  
इच्छादेरिव ज्ञातो घट इत्यत्रापि ज्ञानस्य विषयतारूपसम्बन्धोभासते न त्वतिरिक्तज्ञाततेति  
भावः ॥ ३ ॥

तदुच्यत इति तत् परितोषाय आचार्यः पुनः स्पष्टमुच्यत इत्यर्थः । मूले अर्थेनैवेति  
अर्थपटं विषयपरम्, अमेदे द्वतीया, विशेषः व्यावर्त्तकः विशेषणमिति यावत्, विषया-  
भिन्नो व्यावर्त्तकः इति समुदितायः, निराकारतयेति विशेषणे द्वतीया, निराकाराणा-  
मित्यर्थः, निरवयवानां धियां विषय एव व्यावर्त्तकः इति समुदिततात्पर्यम् । निरा-  
कारतयेत्यनेन ज्ञानानां व्यावर्त्तकान्तरं नास्तीति सूचितम्, अर्थेनैवेति दृष्टान्तविषयोक्तं,  
तथाच यथा घटज्ञानमिति प्रतीती ज्ञानस्य विशेष्यत्वं घटस्य विषयित्वात्स्वरूपसम्बन्धेन  
विशेषणत्वं त्वयापि अवश्यमङ्गीकार्यं तथा ज्ञातो घट इति प्रतीती घटस्य विशेष्यत्वं  
ज्ञानस्य विषयत्वात्स्वरूपसम्बन्धेन विशेषणत्वं न त्वतिरिक्तज्ञाततायाः, घटज्ञानमित्यत्र  
ज्ञानस्य विशेष्यत्वं घटस्य विशेषणत्वं ज्ञातो घट इत्यत्र विशेषण विशेष्यभाववैपरीत्यम्



घटादीनां व्यवहारेषु विशिष्टबुद्ध्यादिषु विशेषस्तथा ज्ञातोघट-इत्यादौ  
ज्ञानेनैव घटादौ विशिष्टधीर्न धर्मान्तरादिति ॥ ४ ॥

ननु तथापि नेश्वरज्ञानं प्रमा प्रमाणजन्यत्वाभावात्, एव-  
मीश्वरो न प्रमाता न वा प्रमाणं प्रमाकर्तृत्व-करणत्वयोरभावा-  
दत्राह,—

मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमादृता ।

तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥

एतावानेव विशेषः इति भावः । क्रिययैवेति अत्र क्रियापदं कृतीच्छा-ज्ञानपरं, द्विती-  
यार्थः अनेदः, विशेषः व्यावर्तकः विशेषणमिति यावत्, कृतीच्छाज्ञानाभिन्नं विशेषणमिति  
समुदितार्थः । व्यवहारेषु कृतो घटः इष्टो घटः ज्ञातो घट इत्यादिविशिष्टबुद्धिषु,  
कर्मणां विषयाणां घटादीनां, कृतीच्छा-ज्ञानादिकमेव विशेषणमिति समुदिततात्पर्यम् ।  
कृतीच्छावद्दृश्यं दृष्टान्तार्थम्, अतएव ज्ञानेनैवेत्यनुक्ता क्रिययैवेत्युक्तम् । तथाच कृतो  
घट इष्टो घट इत्यत्र यथा विषयतासम्बन्धेन कृतोः इच्छायाश्च विशेषणत्वं न त्वतिरिक्त-  
कृतत्वैतल्योः तथा ज्ञातो घट इत्यापि ज्ञानस्य विषयत्वसम्बन्धेन 'विशेषणत्वं' न त्वति-  
रिक्तज्ञातताया इति भावः । इममर्थं विवृणोति टीकायां यथा घटादिनेति, घटादिना  
विशेषणेन घटादिनेत्यर्थः, विशिष्टधीः घटज्ञानमिति विशिष्टधीः । यथा च क्रिययैवेति अत्रापि  
अनेदार्थं द्वितीया, क्रियापदं कृत्यादिपरम् विशेष इत्यनेनान्वयः, तथाच कृतो घट इत्यादौ  
कर्मणां विषयाणां घटादीनां क्रिययैव कृत्यादिरेव विशेषः विशेषणम् इति समुदितातात्पर्यम् ।  
ज्ञानेनैवेत्येवकारव्यावर्तनीयमाह न धर्मान्तरादिति न ज्ञाततारूपधर्मान्तरादित्यर्थः ।  
न च अतिरिक्तज्ञातत्वानङ्गीकारे घटं जानातीत्यादौ कथं क्रियाजन्यफलशालित्वेन  
घटस्य कर्मत्वमिति वाच्यम् । तत्र कर्मताव्यवहारस्य भाक्तत्वेन विषयत्वस्यैव द्वितीयार्थ-  
त्वात् ॥ ४ ॥

प्रमाणजन्यफलस्य प्रमात्वात् ईश्वरज्ञानस्य नित्यत्वेनाफलत्वात् प्रमात्वं, मापीश्वरः  
प्रमाणं प्रमाया अकारणत्वात्, अतएव प्रमासमवायिकारणत्वरूपप्रमाकर्तृत्वाभावात्  
न प्रमाद्वलमित्यादि शङ्कते, नन्वित्यादिना, प्रमाणजन्यत्वाभावादिति प्रमाणजन्यत्वा-  
भावेन फलत्वाभावादित्यर्थः । मूले तद्वत्तेति तदाश्रयत्वमित्यर्थः, सविषयकार्थकधातु-



यथार्थानुभवत्वमेव प्रमात्वमजन्यत्वेऽप्येष्टरज्ञानस्याविरुद्धं, प्रमा-  
त्वत्वं प्रमासमवायित्वम् तच्च अकारणत्वेऽपि प्रमाया ईश्वरस्या-  
विरुद्धम् । एवं प्रमाया सहायोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धितयेश्वरस्य  
प्रमाणत्वं न तु करणत्वमपि तत्र नियामकमिति, “मन्त्रायुर्वेदवत्  
तत्राप्ताख्यमाप्तप्रामाण्यात्” इति सूत्रे (न्याय सू० २।६८) ईश्वरस्य  
प्रामाण्यमुक्तम् । न चेश्वरस्य पञ्चमप्रमाणत्वापत्त्या विभागव्याघातः,  
प्रमाकरणाभिप्रायेण विभागसम्भवात् । न चेश्वरज्ञानस्य भ्रम-  
विषयकत्वे भ्रमविषयावगाहित्वेन भ्रमत्वापत्तिरिति वाच्यम् ।  
व्यधिकरणप्रकारकत्वाभावेनाप्रमात्वाभावात्, भ्रमनिष्ठं शुक्तिविशेष-  
कत्वं रजतत्वप्रकारकत्वञ्च सदेव तदवगाहितया ईश्वरज्ञानस्य  
प्रमात्वाच्चतेः ॥ ५ ॥

योगे आश्रयत्वस्यैव कर्तृप्रत्ययार्थत्वादिति भावः । प्रमाया सहायोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धित-  
येति कालविशेषावच्छेदेन विषयविशेषावच्छेदेन वा-यः प्रमाया अयोगः अभावः तद्व्यव-  
च्छेदसदभावसात्सम्बन्धितया तत्समवायवत्त्वेनेत्यर्थः, अस्मिन् द्वितीया तदात्मकं प्रमाणत्वमिति  
फलितार्थः । तथाच सर्वदा सर्वविषयकप्रमावत्त्वं प्रमाणत्वमीश्वरस्येति भावः । न तु कारणत्वमपि  
न तु प्रमाकरणत्वमपीत्यर्थः, तत्र नियामकमिति अतः परम् एतदभिप्रेत्येति पूरणीयं, तत्-  
प्रामाण्यमिति वेदसामान्यप्रामाण्यमित्यर्थः, आप्तप्रामाण्यादिति । अत आप्तपदं भ्रम-प्रमादादि  
यस्य नैदयुक्त पुरुषपरं तस्य प्रामाण्यात् निरुक्ता प्रामाण्यामित्यर्थः । पञ्चमप्रमाणत्वापत्त्या  
पञ्चमप्रमाणपदार्थत्वापत्त्या विभागव्याघातः प्रमाणपदार्थस्य चतुर्धा विभागव्याघातः ।  
भ्रमविषयकत्वे सर्वविषयकत्वानुरोधेन भ्रमविषयकत्वे, भ्रमविषयावगाहित्वेनेति ज्ञानज्ञानस्य  
ज्ञानविषयविषयकत्वनियमादिति भावः । व्यधिकरणेति तथाच शुक्ताविर्दं रजतमिति ज्ञानस्य  
व्यधिकरणप्रकारकत्वेन भ्रमत्वेऽपि शुक्तौ रजतत्वज्ञानवानिति ज्ञानं न भ्रमः प्रमाख्य एव  
विशिष्टविषयप्रसिद्धा विशिष्टविषयोपरागीशैवानुव्यवसायः, भ्रमस्थले विशिष्टविषयाप्रसिद्धा न  
विशिष्टविषयोपरागीणानुव्यवसायः किन्तु विलक्षणविषयलोपरागीणैव, अतएव भ्रान्तिज्ञस्य न  
भ्रान्तत्वम्, एवञ्च ईश्वरज्ञानस्य सर्वविषयकत्वानुरोधेन भ्रमविषयकत्वेऽपि विषयलोपरागीणैव  
भ्रमविषयकत्वं न तु विषयोपरागीयेति न प्रमात्वव्याघात इति भावः ॥ ५ ॥



स्तवकार्थसंग्राहकश्लोकमाह—

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ

भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः ।

लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः

शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥६॥

इति चतुर्थः स्तवकः ।

भूतार्थानुभवे यथार्थानुभवे, साक्षात्कारिणि प्रत्यक्षे, निविष्टो विषयोभूतो निखिलप्रस्ताविवस्तूनां नानापदार्थानां क्रमो यस्य स तथा अनुभवविषयसकलविश्वक इत्यर्थः, नित्ययोगिनि सदातनत्वयुक्ते, अतएवेन्द्रियाणां द्वाराणामनपेक्षा स्थितिर्यस्य, लेशतोऽप्यंशतोऽपि अदृष्टिर्विशेषादर्शनं तन्निमित्तिका या दुष्टिः रागद्वेष-मोहात्मिका तद्विगमेन प्रभ्रष्टः शङ्कातुषः वेदाप्रामाण्यशङ्कालेशो यस्मादित्यर्थः, प्रमाणं शिवः, एवम्भूते तत्ताप्रामाण्यशङ्कारूपकलङ्कवद्भिः पाषण्डैः किं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

इति तुरीयस्तवकव्याख्यानम् ।

नानापदार्थानां क्रम इति अत्र क्रमशब्दः सामान्य-विशेषवैशिष्ट्यपरः, तत्र निविष्ट-  
शासी निखिलप्रस्ताववस्तुक्रमयेति कर्मधारयः, यस्येति पूरितं, भूतार्थानुभवे इत्यनेना-  
ख्यान्यः, न तु यस्येत्यस्य बहुव्रीहिसमासान्यपदार्थपरता, तथा सति क्रमपदार्थे तदन्वय-  
बाधादसङ्गतिः भूतार्थानुभवे ईश्वरीयत्वलाभयेति । किं कर्तव्यमिति किमनिष्टं  
कर्तव्यमितीत्यर्थः ॥ ६ ॥

इति श्रीकामाख्यानाथ-तर्कवागीशविरचितायां कुसुमाञ्जलिविहारी

चतुर्थस्तवकविहतिः ।



## पञ्चम स्तवकः ।

तत्साधकप्रमाणाभावात् इति पञ्चमविप्रतिपत्तिः, नन्वीश्वरे  
साधकप्रमाणमेव नास्तीत्यत्राह ।

कार्य्यायोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्वयः ॥१॥

चित्यादि सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत् सकर्तृकत्वञ्च उपादान-  
गोचरापरोक्षज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमज्जन्यत्वम् । आयोजनं कर्म एवञ्च  
सर्गाद्यकालीनद्वयणुकारभक्तपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म चेतन-

पञ्चमीं साङ्गविप्रतिपत्तिमुत्थापयति, तत्साधकेत्यादि विप्रतिपत्तिस्तु चितिः सकर्तृका  
न वेत्येवंरूपा । समाधत्ते मूले कार्य्यायोजनेत्यादि, टीकायां चित्यादीति, तादात्म्य-  
सम्बन्धेन व्याप्यतायां विवादात् कार्य्यपदस्य धर्मपरतामाह, कार्य्यत्वादिति । अथ  
चितिः सकर्तृका कार्य्यत्वादिहेतुमानेन चितित्वावच्छेदेन सकर्तृकत्वं साधनीयं चितिल-  
सामाधिकारख्येन वा, नाद्यः परमाणौ बाधात् । न द्वितीयः घटादावंशतः सिद्धसाधना-  
पत्तेः, अन्यचितित्वावच्छेदेन सकर्तृकत्वस्य साधनीयत्वे परमते अजन्यचितिरप्रसिद्धा  
जन्यपदस्य निरर्थकत्वापत्तेः, अन्यत्वस्यैव पञ्चतावच्छेदकत्वसम्भवे चितिलस्य पञ्चतावच्छेद-  
ककोटौ व्यर्थत्वाच्च । न च तर्हि अन्यत्वमेव पञ्चतावच्छेदकम् इति वाच्यम् । पञ्चता-  
वच्छेदक-हेतोरभेदप्रसङ्गादिति चेत्, न, स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपकार्य्यत्वस्यैव पञ्चतावच्छेदक-  
त्वात् प्रागभावप्रतियोगित्वरूपकार्य्यत्वस्यैव हेतुत्वेन तयोर्भेदात् अवच्छेदावच्छेदेन साध्य-  
सिद्धेरुद्देश्यत्वान्नांशतः सिद्धसाधनम् ।

उपादानगोचरापरोक्षज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमज्जन्यत्वमिति, उपादानज्ञान-चिकीर्षाकृतौ-  
नामिव . तादृशज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमतोऽपि अन्य-व्यतिरेकाभां हेतुत्वमित्यभिमाने-  
नेदम् । उपादानज्ञान-चिकीर्षा-कृतिजन्यत्वमेव साध्यं पर्य्यवसितम् । न च तादृश-  
कृतिजन्यत्वस्य पर्य्यवसितसाध्यत्वे नेश्वरसिद्धिरिति वाच्यम् । उक्तानुमानेन सर्गाद्य-  
कालीनचित्यद्वयणुस्यापि कृतिजन्यत्वे सिद्धे तादृशादुरजनककृतिः द्रव्याश्रिता यत्त्वाद्



प्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात् अस्मदादिशरीरक्रियावत् । धृतौति ब्रह्मा-  
ण्डादि पतनप्रतिबन्धकौभूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्त्वात् वियति  
विहङ्गमधृतकाष्ठवत् धृतिश्च गुरुत्ववतां पतनाभावः । धृत्यादेरि-  
त्यादिपदात् नाशपरिग्रहः, ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं विना-  
शित्वात् पाप्यमानपटवत् । पदात् पद्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या पदं व्यव-

इत्यनुमानेन अस्मदादिवाधात् ईश्वरस्य सिद्धेः । उपादानज्ञानजन्यत्वं, चिकीर्षाजन्यत्वं,  
कृतिजन्यत्वञ्च एतद्विषयमेव विनिगमकाभावात् साध्यम्, अथवा उपादानज्ञान-चिकीर्षा-  
कृतिजन्यत्वपदेन उपादानज्ञान-चिकीर्षा-कृतिप्रयोज्योत्पत्तिमत्त्वं कार्यं प्रति उपादान-  
ज्ञानत्वादिसिद्धेः कथमेव कारणत्वेऽपि कार्योत्पत्तौ सामग्रीत्वेन प्रयोजकत्वात् प्रत्येकधर्मां  
वच्छिन्नप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यत्वस्य उत्पत्तौ विरहात् न च प्रवृत्तिं प्रति उपादान-  
ज्ञानस्य चिकीर्षायाश्च कारणत्वेन कार्यसामान्यं प्रत्यकारणत्वात् कार्यसामान्ये कथमुप-  
दानज्ञान-चिकीर्षा-जन्यत्वमिति वाच्यम् । प्रवृत्तिद्वारा कार्यसामान्येऽपि उपादानज्ञान-  
चिकीर्षा-जन्यत्वमिति स्मृतैतदभिधानात् । वस्तुतस्तु कृतिजन्यत्वमेव साध्यं कृति-  
जन्यत्वञ्च विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नकृतित्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्न-  
कार्यत्वं, तेनादृष्टद्वाराद्यदादिकृतिजन्यत्वमादाय न सिद्धसाधनम् । ननु जन्यं विशेष्यता-  
सम्बन्धावच्छिन्नकृतित्वावच्छिन्नकारणतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतावत् प्रागभाव-  
प्रतियोगित्वादित्यनुमानं फलितं तथाच ध्वंसे प्रचतावच्छेदकजन्यत्वाक्रान्ते विशेष्यता-  
सम्बन्धावच्छिन्न-कृतित्वावच्छिन्न-जनकता-निरूपितसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्न-जन्यत्वरूपसाध्याभावात्  
बाध इति चेत्, न, सत्त्वविशिष्टजन्यत्वस्त्वेव ध्वंसव्यावृत्तस्य प्रचतावच्छेदकलोप-  
गमात् । न च हेत्वधिकरणे ध्वंसे उक्तासाध्याभावेन व्यभिचार इति वाच्यम् । हेतावपि  
सत्त्वविशिष्टस्य निवेशनीयत्वात् । आयोजनमिति आयुज्यते संयुज्यते अनेनेति व्युत्पत्त्ये-  
त्यादिः, सर्गाद्यकालीनेति, सर्गाद्यकालीनत्वविशेषणं सामानाधिकरण्येनावच्छेदावच्छे-  
देन वा उभयथापि साध्यसिद्धेरुद्देश्यतास्थले ईश्वरसिद्ध्यर्थम् अन्यथा द्वायकारभक्तपरमाणु-  
द्वयसंयोगजनकाद्यदादिसिद्धिविधेः पुरुषक्रियान्तर्भाविण्य सिद्धसाधनापत्तेः । चेतनप्रयत्न-  
पूर्वकं चेतनप्रयत्नप्रयोज्यमित्यर्थः, कर्मत्वादिति, अत्र कर्मत्वपदेन कार्यान्तरकसंयोगजनक-  
कर्मत्वं यावन् अन्यथा कार्यान्तरकवायादिक्रियायां व्यभिचारापत्तेः क्रियात्मात्रे  
चेतनप्रयत्नसाध्यत्वस्य ईश्वरान्तर्भावसंसाध्यमते असम्भवात्, तथाच दृढतरावयवसंयोगजन्य-



हारः, पटादिसम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः व्यवहारत्वात्  
आधुनिकलिप्यादिव्यवहारवत् । प्रत्ययतः प्रामाण्यात्, वेदजन्यज्ञानं  
कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत् । श्रुतेर्वेदात्, वेदः  
पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत् । किञ्च वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात्

कार्यारम्भकक्रियामावस्य चेतनप्रयत्नसाध्यजन्यमात् न व्यभिचारः, चेतनप्रयत्नसाध्य-  
वायादिक्रियया संयुक्तपरमाणुद्वयस्य द्वायुकानात्मकत्वात् वायुनामनवरतपरिस्पन्दमान-  
त्वेन तत्क्रियाजन्यसंयोगस्य प्रतिक्षणमेव नाशसम्भवात् अतएव पक्षे द्वायुकारम्भकत्वान्त-  
र्भावः अन्यथा पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यतास्थले कार्यान्तरम्भकवायादि-  
क्रियान्तर्भावेण सामानाधिकरण्येन बाधापक्षः । परमाणुद्वयसंयोगेति संयोगे परमाणु-  
द्वयविशेषणं स्वरूपकौर्त्तनमात्रम् । प्रयववदधिष्ठितं प्रयववत्संयुक्तं, धृतिमत्त्वात् गुरु-  
त्ववन्निष्ठपतनाभाववत्त्वात् । प्रयववद्विनाशः प्रयववत्प्रयोज्यनाशप्रतियोगि । पद्यते  
इति ज्ञायत इत्यर्थः । पटादिसम्प्रदायेति सम्प्रदायः निर्माणपरम्परा स एव व्यवहार-  
इत्यर्थः, व्यवहारः उपदेशादिकम् । स्वतन्त्रेति स्वातन्त्र्यम् अन्यव्यवहारानधीनव्यवहार-  
कर्तृत्वं, तथाच सर्गादवितरवाधादौश्वरसिद्धिरिति भावः । प्रामाण्यं प्रमातृत्वं, कारण-  
गुणजन्यमिति प्रमालघटितधर्मावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिकारणजन्यमित्यर्थः, तेन प्रत्यक्ष-  
प्रमायां विशेषणवन्निश्चयसन्निकर्षरूपगुणस्य, अनुमित्यात्मकप्रमायां साध्यवत्त्वविशेष्यक-  
साध्यव्याप्यवैशिष्ट्यज्ञानरूपगुणस्य, उपमित्यात्मकप्रमायां शक्यनिष्ठसादृश्यज्ञानरूपगुणस्य,  
शब्दप्रमायां वक्तृयथार्थज्ञानरूपगुणस्य हेतुतया कारणगुणत्वानुगमेऽपि न चतिः तेषां  
प्रमालघटितधर्मावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगित्वेनानुगमात् । न च पूर्वपूर्वाध्यापकयथाव-  
वाक्यार्थज्ञानजन्यतामादाय सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेति वाच्यम् । सर्गाद्यकालीनवेदजन्य-  
ज्ञानस्यापि पक्षत्वात् । पौरुषेयः सजातीयोच्चारणानपेक्ष्यमादिशून्यपुरुषोच्चारणजन्यः,  
आयुर्वेदस्य संवादिप्रवृत्तिजनकवाक्यार्थज्ञानजनकत्वेन तथाविधपौरुषेयत्वावधारणस्य  
उभयसिद्धतया दृष्टान्तत्वमिति भावः । अत्रापि वेदत्वावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वं,  
लिङ्गमपि वेदत्वं न तु वाक्यत्वं कारिकायां श्रुतेरित्युक्तत्वात् श्रुतिपदस्य धर्मपरतया श्रुतिल-  
क्षाभात् श्रुतित्वमेव वेदत्वमिति । वेदत्वञ्च अनुपलभ्यमानसूत्रान्तरत्वे सति महाजन-  
परिगृहीतवाक्यत्वं, मन्वादिवाक्यवारणाय सत्यन्तदत्वम् । वाक्यानीति तथाच वाक्य-  
त्वावच्छेदेन पौरुषेयत्वस्य साध्यतया वेदेऽपि तत्सिद्धिरिति भावः । संख्याविशेषा-



भारतवत्. वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्य-  
वत् । संख्याविशेषात्, इत्युक्तपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाण-  
प्रचयजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् तुल्यपरिमाणककपालद्वया-  
रब्धघटपरिमाणात् प्रकृष्टतादृशकपालत्रयारब्धघटपरिमाणवत्.

दिति, संख्याविशेषः परमाणुगतद्वित्वं, संख्याजन्यमिति परिमाणजन्यपरिमाणे प्रचयजन्य-  
परिमाणे, च व्यभिचारवारणाय सत्यत्वम् । नित्यपरमाणुपरिमाणे व्यभिचारवारणाय  
जन्यत्वं, घटादौ व्यभिचारवारणाय परिमाणत्वमिति । तुल्यपरिमाणककपालद्वयेति अत्र  
तुल्यत्वम् अविलक्षणत्वम्, अयं भावः यत् तुल्यपरिमाणानां पञ्चानां कपालानां द्वाभ्या-  
मेको घटः त्रिभिश्चापरो घटोजातः तत्र कपालद्वयारब्धघटपरिमाणात् कपालत्रयारब्ध-  
घटपरिमाणस्य वैलक्षण्यं प्रत्यक्षसिद्धम् उभयत्र कपालपरिमाणस्य हेतुत्वे तादृशवैलक्षण्यं  
न निर्वहति परिमाणस्याविशेषात् इति कार्यवैलक्षण्यप्रयोजककारणवैलक्षण्यनिर्वाहय  
तादृशविलक्षणपरिमाणे त्रित्वसंख्याया एव हेतुत्वं न तु परिमाणस्य । न च एतादृश-  
विलक्षणपरिमाण एव परिमाणस्य कारणत्वम् अन्यत्र संख्यायाः कारणत्वम् इत्येव कथं  
न भवतीति वाच्यम् । शुद्धपरिमाणकपालद्वयारब्धघटपरिमाणात् दृढपरिमाणकपाल-  
द्वयारब्धघटपरिमाणस्य वैलक्षण्यं प्रत्यक्षसिद्धं तादृशवैलक्षण्यस्य संख्यायाः कारणत्वे  
अनिर्वाहप्रसङ्गात् उभयत्र संख्याया एकरूपत्वात् । परिमाणस्य कारणत्वे तु उभयत्र  
कारणभूतकपालपरिमाणवैलक्षण्यात् कार्यभूतघटपरिमाणस्य वैलक्षण्यं निर्वहति  
इत्यावेदयितुमेव तुल्यपरिमाणककपालद्वयारब्धेत्युक्तम् । न च तुल्यपरिमाणकपालत्रया-  
रब्धघटपरिमाण इव तादृशकपालद्वयारब्धघटपरिमाणेऽपि संख्यायाः कारणत्वं कथं  
न सम्भवति द्वित्व-त्रित्वयोः वैलक्षण्यात् कार्यवैलक्षण्यसम्भवात् इति वाच्यम् । तत्र  
धोविशेषविषयत्वरूपायाः संख्यायाः कारणत्वमपेक्ष्य परिमाणस्य कारणत्वे लाघवात् ।  
अत्र धोविशेषविषयत्वरूपत्रित्वस्य कारणत्वे गौरवं प्रामाणिकत्वात् न दोषाय । न च  
त्रित्वसंख्याजन्यविलक्षणपरिमाणस्यैव परिमाणरूपकारणसत्त्वात् परिमाणजन्यपरिमाणं  
कथं नोत्पद्यत इति वाच्यम् । विजातीयपरिमाणं प्रति विजातीयपरिमाणसामग्र्याः  
प्रतिबन्धकत्वकल्पनात् । ननु इत्युक्तपरिमाणस्य परमाणुपरिमाणजन्यतया हेतोः स्वरूपा-  
सिद्धत्वम् इत्यत आह अणुपरिमाणहेति, नित्यपरिमाणत्वादिति, अत्र परममहत्परि-  
माणस्य इष्टान्तर्गत्, नन्विदमप्रयोजकमित्यत आह, अणुपरिमाणत्वादिति, अत्र व्यति-



अणुपरिमाणञ्च न परिमाणजनकं नित्यपरिमाणत्वात् अणुपरिमाण-  
त्वाद्वा, एवञ्च सर्गादौ द्रव्यकपरिमाणहेतुपरमाणुनिष्ठद्वित्वसंख्या  
च नास्मदाद्यपेक्षाबुद्धिजा, अतस्तदानीन्तनापेक्षाबुद्धिरीश्वरस्यैवेति ।

• LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No. 943-1373

रेकेण दृष्टान्तः । न चेदमप्यप्रयोजकमिति वाच्यम् । परिमाणस्य स्वभजातीयोत्-  
कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात् परमाणुपरिमाणसजातीयं द्रव्यकपरिमाणं यदि परमाणु-  
परिमाणजन्यं स्यात् तदा परमाणुपरिमाणादुत्कृष्टं स्यादिति तर्कसत्त्वेन प्रयोजकत्वात् ।  
ननु तथापि कथमीश्वरसिद्धिरित्यत आह, सर्गादाविति, तथाच सर्गाद्यकालीनपरमाणु-  
गतद्वित्वसंख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या द्वित्वादित्यनुमानेन इतरबाधवलादीश्वरीयापेक्षा-  
बुद्धिसिद्धावीश्वरसिद्धिरिति परम्परया संख्याया ईश्वरसाधकत्वम् । अथ परमाणुगत-  
द्वित्वादिसंख्या नित्यैवानु कथं तज्जनकतया ईश्वरीयापेक्षाबुद्धिसिद्धिरिति चेत् परमाणुगत-  
द्वित्वदिसंख्याया नित्यत्वे नित्यानेकसमवेतत्वरूपजातिवक्ष्यमाणस्या गुणत्वव्याघातापत्तेः ।  
न च परमाणुद्वित्वादीनां जातित्वमेवानु इति वाच्यम् । तद्वित्वाधिकरणैकपरमाणु-  
मादय तद्वित्वानधिकरणपरमाणुद्वयवृत्तिमित्यस्य तद्वित्वेन साङ्ख्यिकप्रसङ्गात् । न च  
परमाणुगतद्वित्वादिसंख्याया अन्यत्वेऽपि नापेक्षाबुद्धिजन्यत्वमिति वाच्यम् । घटादिगत-  
द्वित्वादिसंख्याया अपेक्षाबुद्ध्यनन्तरमेव प्रत्यक्षोदयात् अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वादिसंख्याहेतुत्वम-  
पेक्ष्य द्वित्वादिहेतुत्वकल्पनाया एव लघुत्वात् एवञ्च घटपटादिद्वित्वादिसंख्याय अपेक्षा-  
बुद्धेर्हेतुत्वे कल्पनीये सामान्यतो द्वित्वादौ अपेक्षाबुद्धेर्हेतुत्वोपगमात् । न चानन्वद्वित्वादि-  
कल्पने गौरवमिति वाच्यम् । फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् । न चैकापेक्षाबुद्ध्या  
जनितद्वित्वस्य पुरुषान्तरेणापेक्षाबुद्धिरहितेनायद्विषयाद्वित्वादिसंख्या अपेक्षाबुद्धिविशे-  
षाणां समवायघटितप्रत्यासत्त्या हेतुत्वावश्यकत्वात् तत एवापेक्षाबुद्धिविरुद्धदशायां  
द्वित्वादिसंख्याविरुद्धोपपत्तौ द्वित्वं प्रति तदधिकरणद्रव्ययोः समवायिकारणधोर-  
समवायिकारणशोथ तदेकत्वयोर्नियामकत्वेनैवोपपत्तौ किमपेक्षाबुद्धिविशेषस्य निमि-  
त्तान्तरत्वकल्पनेनेति वाच्यम् । अपेक्षाबुद्धेः द्वित्वप्रत्यक्षं प्रति समवायसम्बन्धेन हेतुत्वे  
द्वित्वाश्रयविषयाणामवच्छेदकविषया निवेष्टे गौरवात् समवयसम्बन्धेन तत्पुरुषीय-  
प्रत्यक्षविषयद्वित्वं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धेः हेतुत्वे बाधनात्  
तत्पुरुषीयप्रत्यक्षविषयत्वस्य कार्यतावच्छेदके निवेशान् नैकपुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्य-  
द्वित्वादेरपरपुरुषेण याच्यतापत्तिः । अथ तथापि सामान्यसामग्रीवत्तादिकपुरुषीया-



विश्वविद्वय इति विशिष्टस्याव्ययत्वं, तेन नित्यसर्वविषयकज्ञान-  
सिद्धिः ॥ १ ॥

ननु शरीरविशिष्टस्य कर्तृतया विशेषणबाधाल्लकोविशिष्टबाध-

पेचावुद्धिजन्यद्वितीयादेरपरपुरुषेण याज्ञल्यं दुर्वारमिति तत्पुरुषीयद्वित्वप्रकारतानिरु-  
पितविशेष्यतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयप्रत्यक्षं प्रति विशेष्यतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयापेचा-  
वुद्धेहेतुत्वं वाच्यं तथाच कथमपेचावुद्धेर्द्वितीयादिहेतुत्वमिति चेत् न, एतादृशकार्य-कारण-  
भाववत्त्वात्पेचावुद्धिविरुद्धशयां द्वित्वप्रकारकप्रत्यक्षवारणोऽपि तदानीं घट-घटयोर्द्वित्व-  
मिति द्वित्वविशेष्यकप्रत्यक्षवारणात् परन्तु द्वित्वनिष्ठलौकिकविषयतासम्बन्धेन तत्-  
पुरुषीयप्रत्यक्षं प्रति तत्पुरुषीयापेचावुद्धिजन्यद्वित्वस्य विषयविधया हेतुत्वावश्यकत्वात्  
द्वित्वप्रकारताननिवेश्य द्वित्वनिष्ठलौकिकविषयतानिरुपितविषयतासम्बन्धेन तत्पुरुषीय-  
प्रत्यक्षं प्रति तत्पुरुषीयापेचावुद्धेर्मुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन हेतुत्वोपगमोऽपि अपेचावुद्धि-  
विरुद्धशयान् इदं द्वित्वमिति प्रत्यक्षस्य द्वित्वनिर्विकल्पकस्य चावारणात् । न चापेचा-  
वुद्धिविरुद्धशयां द्वितीयादिप्रत्यक्षे का चतिरिति वाच्यम् । अनुभवविरोधात् । न च  
ईशरीयापेचावुद्धेः परमाणुगतद्वितीयादकाले परमाणुषु नियतं द्वित्वोत्पत्तिरिति वाच्यम् ।  
सर्गाद्यकालस्य निमित्तान्तरत्वकल्पनेन तद्वारणसम्भवात् । न च ईशरीयापेचावुद्धे-  
र्नित्यत्वेन परमाणुगतद्वित्वनाशसम्भव इति वाच्यम् । शब्दादेरिव परमाणुगतद्वितीयादीनां  
स्वोत्तरवर्त्तिसमानाधिकरणगुणान्तरस्य नाशकत्वकल्पनात् । एक-द्व्यादिपदशक्यतावच्छे-  
दिका एकत्व द्वितीयादिसंख्या गुणविशेषरूपेति द्रव्य एव एक द्वादिप्रयोगोमुख्यः गुणादिषु  
च तत्प्रयोगो गौणः गुणादावेकत्वम् इदमित्याकारकवुद्धिविशेष्यत्वरूपं तत्र द्वितीयादिकञ्च  
अपेचावुद्धिविशेषरूपं समवेतकार्यं प्रति तादन्तेन द्रव्यस्यैव हेतुत्वात् गुणादिषु न संख्या-  
सम्भव इति । विशिष्टस्याव्ययत्वमिति विशिष्टस्य विश्वविषयकज्ञानवतः अव्ययत्वं नित्यत्वं  
साध्यमिति शेषः । तेनेति तथाच विशिष्टान्वयस्थले असति बाधके विधेयस्य विशेषण-  
विशेष्योभयान्वितत्वं नियम इति भावः । ईशगैयज्ञानस्य ध्वंस-प्रागभावादिकल्पनायां  
गौरवात् बाधवज्ञानसङ्कारेण उपपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्वसिद्धौ नित्यतादृश-  
ज्ञानजन्यत्वसिद्धिः एवं तज्ज्ञानस्य कारणानियम्यतया विनिगमनाविरुद्धेण सर्वविषयकत्व-  
सिद्धयेति भावः ॥ १ ॥

कार्यत्वहेतौ बाधदोषमाह, शरीरविशिष्टस्येति शरीरविशिष्टस्यैव कर्तृतयेत्यर्थः,



इति (१), कर्तृजन्यत्वव्यापकशरीरजन्यत्वाभावात् कर्तृजन्यत्वाभाव-  
इति सत्प्रतिपक्षता च (२) । यद्वा कर्त्ता शरीर्येव इति व्याप्ति-  
विरोधिनो यद्वा व्याख्या यथादर्शनप्रवृत्तया शरीरी कर्त्ता उपनेयः,  
पक्षधर्मतया च क्षित्यादावशरीरीति साध्याप्रसिद्धिः विशेषविरोधश्च  
(४), यद्वा शरीरजन्यत्वाद्युपाधिना व्याप्यत्वासिद्धिः (५), इति कार्य-  
त्वहेतौ पञ्च दोषास्तत्राह ।

विशेषणवाधात्मकः कर्त्तृत्वरूपविशेषणवाधात्मकः, विशिष्टबाधः सकर्त्तृकत्वबाधः । यद्यपि  
बाधस्तृतीयस्तवके निरस्तः तथापि तत्र योग्यानुपलब्धिबाधो निरस्तः अतः तु अनुमानबाधो  
निरस्तनीयः अनुमानश्च ईश्वरो न कर्त्ता शरीराभावादित्येवंरूपम्, एतादृशानुमान-  
लाभार्थमेवोक्तं शरीरविशिष्टस्य कर्त्तृत्वहेति । तथाचैतादृशानुमानेन चितिः सकर्त्तृका  
कार्यत्वादित्यनुमानबाधः । असत एव ईश्वरस्य भानमित्यभिमानेनेदम् । बाधेनानु-  
मानबाधमुक्त्वा सत्प्रतिपक्षेण तत्राह, कर्त्तृजन्यत्वव्यापकेति, तथाच चित्तिरकर्त्तृका  
शरीराजन्यत्वादिति विपरीतकोटिसाधकानुमानेन सत्प्रतिपक्ष इति भावः । प्रकारान्त-  
रेणानुमानबाधमाह "यद्वेति, कर्त्ता शरीर्येवेति कर्त्ता शरीर्येवेतिवाक्यप्रतिपाद्यव्याप्ति-  
विरोधिनोत्वर्थः, विशेषणसङ्गतैवकारस्य विशेष्यतावच्छेदके विशेषणव्याप्यत्वरूपावच्छेद-  
याहकत्वात्, तथाच चितिः सकर्त्तृका कार्यत्वादित्यनुमानेन पक्षधर्मतावलादशरीरकर्त्तृ-  
जन्यत्वसिद्धिः कार्या तत्र च शरीरित्वव्याप्यकर्त्तृत्वग्रहः प्रतिबन्धकः तद्व्याप्यतया  
गृहीतधर्मधर्मितावच्छेदककतदभावप्रकारकानाहार्थ्यग्रहानभ्युपगमादिति नेश्वरसिद्धिरिति-  
भावः । साध्याप्रसिद्धिमाह, यद्वेति, यथादर्शनप्रवृत्तयेति शेषः कर्त्ता स शरीरी यथा  
घटादिकर्त्ता कुलालादिरिति सहचारदर्शनगृहीतया, व्याप्या शरीरित्वनिष्ठकर्त्तृत्व-  
व्याप्या, शरीरी कर्त्ता उपनेयः कर्त्तृत्वात् शरीरित्वमनुमेयमित्यर्थः, पक्षधर्मतया इतरबाध-  
सङ्कारेण, क्षित्यादौ सर्गाद्यकालीनक्षित्यङ्कुरादौ, अशरीरीतीति कर्त्ता उपनेयः इति  
पूर्वणान्वयः, कर्त्तरि अशरीरित्वम् अनुमेयमित्यर्थः, साध्याप्रसिद्धिरिति ईश्वरस्य कर्त्तृत्वे  
शरीरित्वव्याप्यकर्त्तृत्वेन शरीरित्वस्य पक्षधर्मतावलीनाशरीरित्वस्य च प्रसक्त्या शरीरित्वा-  
शरीरित्वोभयविशिष्टकर्त्तृत्वरूपसाध्याप्रसिद्धिरित्यर्थः, अतः हेतुमाह विशेषविरोधश्चेति  
चो हेतौ, यतः कर्त्तृत्वनिष्ठशरीरित्वव्याप्तिवलीन उपस्थितस्य कर्त्तरि शरीरित्वरूपविशेषण



न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात्, प्रतिबन्धो न दुर्बलैः ।

सिद्धसिद्धोर्विरोधो न, नासिद्धिरनिबन्धना ॥ २ ॥

ईश्वरे धर्मिणि शरीरबाधात् कर्तृत्वबाधो (१) न, अधिकरणज्ञानं विना अभावज्ञानासम्भवात् अस्य कार्यत्वस्य धर्मिसाधकस्याधिकरणज्ञानजनकतया अवस्थापेक्षणीयत्वेन बलवत्त्वात्, एवञ्च न विशेषणबाधात्मकोविशिष्टबाधः प्रत्यक्षात्मक इति, ईश्वरो न कर्त्ता

पक्षधर्मतावलेनोपस्थितस्य कर्त्तरि अशरीरित्वरूपविशेषस्य च द्वयोः विरोधः ईश्वरैक-  
धर्मवृत्तित्वाभावलक्षणोविरोधः । एतदेवोक्तं रामभद्रेण “ईश्वरो न कर्त्ता अशरीरित्वा-  
दिति बाधोऽत्र दोषः चित्तिरकर्त्तृका शरीराजन्मत्वादिति सत्प्रतिपक्षो वा कर्त्ता शरी-  
र्यवेति व्याप्तिर्विरोधिनी वा शरीरित्वाशरीरित्वयोर्विरोधो वा शरीरजन्मत्वमुपाधिर्वा”  
इति । विशेषण-विशेष्यविरोधेत्यर्थं पाठः प्रकाशकाराद्यसम्मतत्वान्न समीचीनः । प्रकाश-  
कारिणाप्युक्तं “व्याप्तिपक्षधर्मतोपस्थाप्यविशेषयोर्विरोधेन विशेषविरोधः स्यात्” इति ।  
व्याप्यत्वासिद्धिमाह, शरीरजन्मत्वाद्युपाधेनेति, यत्र यत्र सकर्त्तृकत्वम् उभयवादिसिद्धं  
तत्र तत्र शरीरजन्मत्वम् इति शरीरजन्मत्वस्य साध्यव्यापकत्वं, यत्र यत्र कार्यत्वम् उभयवादि-  
सिद्धं तेषामन्तर्गतं यत् चित्यङ्गुरादिकं तत्र शरीरजन्मत्वाभावेन साधनाव्यापकत्वमिति  
शरीरजन्मत्वस्य उपाधित्वम् । कार्यहेताविति कार्यत्वहेतावित्यर्थः दोषा इति  
यथाकथञ्चित् चित्यङ्गुरादिधर्मिकानुमाननिरोधकदोषाः न तु हेत्वाभासलक्षणाक्रान्त-  
दोषा इति । दोषानुद्धरति, मूलं न बाधोऽस्योपजीव्यत्वादिति, बलवत्त्वात् ईश्वरसिद्धि-  
फलकत्वात्, इदञ्च कारिकास्योपजीव्यपदार्थविवरणम् । न चाधिकरणज्ञानं विनापि  
वाधो रूपं नास्तीतिप्रत्यक्षवत् ईश्वरे कर्त्तृत्वं नास्तीतिप्रत्यक्षं कथं न सम्भवतीति वाच्यम् ।  
वह्निरिन्द्रियस्य स्वाद्योग्यमुख्यविशेष्यकज्ञानाजनकत्वनियमेन तादृशप्रतीती वाधौ विशे-  
षणत्वस्य रूपाभावे विशेष्यत्वस्य च वक्तव्यत्वात् । न चात्रापि तथा सम्भवति, विशिष्ट-  
बुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य हेतुत्वेन प्रमाणाकारेणापि विशेषणज्ञानस्यापेक्षणीयतया  
ईश्वररूपविशेषणज्ञानाद्ये यत् प्रमाणान्तरमपेक्षणीयं तेन ईश्वरस्य कर्त्तृत्वसिद्ध्या ईश्वरे  
कर्त्तृत्वं नास्तीतिप्रत्यक्षस्य बाधितत्वात् । अनुमानबाधोऽप्येत्यादि, अनुमानेऽपि परा-



अशरीरत्वात् इत्यनुमानबाधोऽपि नेत्यर्थः । क्षित्यादि न सकर्तृकं शरीराजन्यत्वात् इति (२) न प्रतिबन्धकं, सत्प्रतिपक्षहेतोः शरीरांशवैयर्थ्यात् व्याप्यत्वासिद्ध्या दुर्बलत्वात् । तृतीयेऽपि कार्यत्वव्याप्तेः पक्षधर्मत्वसहकारात् विपक्षबाधकतर्कावताराच्च बलवत्त्वम्, उपन्यस्तायाः कर्त्ता शरीर्येवेति व्याप्तेर्दुर्बलतया न प्रतिबन्धः । चतुर्थे च यदि पक्षधर्मतया अशरीरी उपस्थितस्तदा न विरोधः, कर्त्तृत्वस्या-

मर्गार्थम् अधिकरणज्ञानस्यापेक्षणीयत्वेन उक्तानुमानस्याप्रसिद्धत्वेन न बाधकत्वमिति तात्पर्यम् । शरीरांशवैयर्थ्यादिति अजन्यत्वस्य अकर्तृकत्वव्याप्यत्वेन सत्यत्वात् शरीरांशस्य निष्कलत्वादित्यर्थः, व्याप्यत्वासिद्ध्या नीलधूमादाविव व्यर्थविशेषणघटितत्वेन व्याप्तानङ्गीकारेणेत्यर्थः, दुर्बलत्वात् प्रकृतसाध्याभावासाधकत्वादित्यर्थः । न च शरीराजन्यत्वहेतुना सत्प्रतिपक्षासम्भवेऽपि अजन्यत्वहेतुनैव तस्य सम्भव इति वाच्यम् । यत् सावयवं तत्जन्यमित्यनुमानेन वृत्तादौ जन्यत्वसिद्ध्या अजन्यत्वस्य स्वरूपासिद्धत्वेन असाधकत्वात् । न च शरीराजन्यत्वादित्यत्र अखण्डाभावघटकतया शरीरांशस्य सार्थक्यमिति वाच्यम् । तस्य सार्थक्यसम्भवेऽपि अप्रयोजकत्वेन दुर्बलत्वात् । प्रतिबन्धो न दुर्बलैरिति कारिकांशं विवृणोति तृतीयेऽपौति, कार्यत्वव्याप्तेः कार्यत्वनिष्ठमकर्तृकत्वव्याप्तेः, बलवत्त्वमित्येतनेनान्वयः, बलवत्त्वं प्रकृतसाध्यासाधकत्वं, पक्षधर्मतासहकारात् इतरबाधसहकारात्, विपक्षबाधकतर्कावतारात् विपक्षस्य साध्याभाववद्भूतित्वस्य बाधकीयत्वात् कार्यत्वं यदि सकर्तृकत्वव्यभिचारि स्यात् कर्तृजन्यतावच्छेदकं न स्यादित्येवंरूपः तदवतारात् तेन व्यभिचारसंशयनिवर्त्तनादित्यर्थः, दुर्बलतया विपक्षबाधकतर्काभावेन सन्दिग्धतया, न प्रतिबन्धः न प्रकृतसाध्यग्रहप्रतिबन्धकत्वम् । सिद्धासिद्धोरित्यंशं विवृणोति चतुर्थे चेति, पक्षधर्मतया इतरबाधसहकारेण, अशरीरी उपस्थितः अशरीरी कर्त्ता उपस्थितः, कर्त्तृत्वस्येति कर्त्तृत्वस्याशरीरित्वसामानाधिकरण्योपलब्धौ कुत्रचित् कर्त्तरि अशरीरित्वसिद्ध्या कर्त्तृत्वे शरीरित्वव्याप्यत्वव्याघातेन तादृशव्याप्तिबलेन कर्त्तृभावे शरीरित्वमुपनेयमित्यसिद्धमिति भावः । तदनुपस्थापन इति अशरीरित्वमुपस्थितावित्यर्थः, विरोधाशयस्येति ईश्वरात्मकैकधर्मिणित्वाभावसंक्षेपविरोधघटके ईश्वररूपधर्मेण इत्यर्थः । तथाच ईश्वररूपधर्म्यं हि तादृशविरोधोदुष्ये इति भावः ।



शरीरित्वसमानाधिकरणस्योपलब्धात्, तदनुपस्थाने तु न विरोधः,  
विरोधाश्रयस्यासिद्धेः । पञ्चमे च विपक्षबाधकतर्कसत्त्वात् तदभाव-  
निवन्धना अज्ञानरूपाऽसिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धिर्वा न, शरीरजन्यत्वोपाधे-  
रपि विपक्षबाधकाभावेनापास्तत्वात् ॥ २ ॥

ननु यदीश्वरः कर्त्ता स्यात् शरीरी स्यादिति प्रतिकूलतर्काव-  
तारोऽनुकूलतर्काभावश्च तच्चाह ।

तर्काभासतयाऽन्येषां, तर्काशुद्धिरदूषणम् ।

अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्य्यलोपोविभूषणम् ॥ ३ ॥

प्रतिकूलतर्कास्तावदीश्वरासिद्ध्या आश्रयासिद्ध्या इत्याभासाः ।

अतएवोक्तं रामभद्रेण “शरीरित्वाशरीरित्वयोः द्वयोः व्याप्ति-पक्षधर्मतयोपनेययोरीश्वरात्म-  
कैकधर्मिष्ठतिलाभावलक्षणो यो विरोधः स न, ईश्वररूपधर्मिण एवायद्वादिति भावः”  
इति । कारिकायां नासिद्धिरनिवन्धनेति, अनिवन्धना निर्वीजा, एतत्कारिकां विवृणोति,  
पञ्चमे चेति, बीजाभावं दर्शयति, विपक्षबाधकेति, अनुकूलतर्कविरह एवासिद्धिवीजम्  
अतोऽत्र अनुकूलतर्कसत्त्वात् असिद्धेर्निर्वीजत्वमिति भावः । तर्काभावस्य वीजत्वं दर्शयति,  
तदभावनिवन्धनेति तर्काभावाधीनेत्यर्थः, अज्ञानरूपा व्याप्तेरज्ञानरूपेत्यर्थः, उपाधेर्व्याप्ति-  
ज्ञानविरोधित्वमिति मतेनैदम्, उपाधेर्व्याप्तिविरहोन्नायकत्वमतेनाह, व्याप्यत्वासिद्धिर्वेति,  
इदमुपलक्षणं शरीरजन्यत्वस्य कर्तृजन्यत्वव्यापकत्वस्यैवासिद्ध्या उपाधित्वासम्भव इति  
दर्शयति, शरीरजन्यत्वोपाधेरपीति उपाधित्वेनोपन्यस्तशरीरजन्यत्वादेरित्यर्थः, विपक्ष-  
बाधकाभावेन यद्वयत् सकर्तृकं तत् शरीरजन्यमित्यत्र व्यभिचारसंशयनिरासकांशुकूलतर्काभावेन  
अपास्तत्वात् उपाधित्वाभावात् । तथाच यद्वयत् सकर्तृकं तत् शरीरजन्यमिति नियमेनैव  
शरीरजन्यत्वे सकर्तृकत्वव्यापकत्वं ग्राह्यं, तादृशनियमस्य अनुकूलतर्काभावेन सन्दिग्धानैकान्तिक-  
तया उक्तव्यापकत्वज्ञानस्याप्राप्ताच्छ्रमिति भावः ॥ २ ॥

कारिकायाम् अन्येषामिति अन्येषां प्रतिकूलतर्काणां, बहुवचनस्वरसात् ईश्वरो यदि  
कर्त्ता स्यात् प्रयोजनवान् स्यात् अथ वा दुःखी स्यादित्यादितर्कपरिग्रहः । तर्काशुद्धिर-  
दूषणमिति तर्कात् प्रतिकूलतर्कात् अशुद्धिः ईश्वरानुमानासिद्धिः, अदूषणं न दोषः,



कर्त्तारं विना कार्यं न स्यादिति तर्कस्तु विभूषणं उपकारकः ।  
 “अहं सर्वस्य प्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्तते” इत्यागमश्च (गीता०) । आर्षं  
 धर्मोपदेशश्च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं  
 वेद नेतरः” ॥ (मनु० अ० १२) इति तर्कानुगृहीतस्यागमस्य बल-  
 वत्त्वम् ॥ ३ ॥

ननु कार्यत्वं प्रयत्नजन्यत्वेऽप्रयोजकम् अत्राह ।

स्वातन्त्र्ये जडताहानिः, नादृष्टं दृष्टघातकम् ।

हेत्वभावे फलाभावः, विशेषस्तु विशेषवान् ॥४॥

न हि कर्त्तारं हेतुं विना कार्यं । परमाणोरेव यत्नवत्त्वेऽचैतन्या-  
 नुपपत्तिः, अचेतनस्य चेतनप्रेरितस्यैव जनकत्वात् । अदृष्टमपि  
 दृष्टकारणसहकारिणैव फलजनकम् । न च चेष्टायामेव भोक्तृ

अशब्दस्य निषेधार्थकत्वात् । टीकायाम् आश्रयासिद्धा इति आश्रयासिद्धाः असदाश्रय-  
 विषयकाः, आभासाः कर्तृत्वाभावरूपविषयापरिगोचकाः, अभावस्यासदनुयोगिकत्वाभावा-  
 दिति । इत्यागमश्चेति उपकारक इति पूर्वोक्तान्वयः । नन्वीश्वरस्य कर्तृत्वाभावसाधकागमस्यापि  
 सत्त्वात् कथमस्यागमस्य प्रामाण्यमित्यत आह, आर्षमिति, आर्षं वेदं धर्मोपदेशं श्रुत्यादिकम् ।  
 तर्कानुगृहीतत्वेति तर्कसहकृतस्येत्यर्थः, तथाच तर्कसहकृतागमसत्त्वे तर्कविरहितागमस्य  
 दुर्बलत्वमिति भावः ॥ ३ ॥

आयोजनं कर्म तच्च प्रयत्नजन्यं कर्मत्वादिति द्यौःकादिप्रयोजककर्महेतुभूतप्रयत्न-  
 श्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति यत् पूर्वमुक्तं तत्र कर्मत्वे अप्रयोजकत्वमाशङ्कते, नन्वित्यादिना,  
 कार्यत्वमिति कर्मत्वमित्यर्थः, सर्गाद्यकाशीनपरमाणुक्रियाहेतुभूतः प्रयत्नः परमाणवेवास्तु  
 अथ वा प्रयत्नं विना अदृष्टादेव तत्कर्मास्तु किं वा चेष्टारूपक्रियाविशेषो भोक्तृप्रयत्नविशेष-  
 जन्योऽस्तु न तु क्रियाभावम् इत्यप्रयोजकत्वहेतुभूतदोषवयं कर्मण निरस्यति कारिकायां  
 स्वातन्त्र्य इति स्वातन्त्र्ये परमाणोः प्रयत्नवत्त्वं जडताहानिः अचैतन्यव्याघातः, एतेन  
 प्रथमदोषनिरासः । अदृष्टं न दृष्टघातकं न प्रयत्नादिदृष्टकारणपरित्यागेन कार्य-  
 जनकम्, अदृष्टादेव सर्वत्र कार्योत्पादे हेत्वन्तरोच्चेदापत्तेः । एतेन द्वितीयदोष-



प्रयत्नोहेतुः, न तु क्रियासामान्ये इति, चेष्टायां विशेषप्रयत्नस्य हेतु-  
त्वेऽपि क्रियासामान्ये प्रयत्नसामान्यस्य कारणत्वानपायात्, अन्यथा  
बीजविशेषस्याङ्कुरविशेषे जनकत्वेनाङ्कुरसामान्यं प्रति बीजत्वेन  
हेतुताया अपि विलोपापत्तेः ॥ ४ ॥

ननु धृत्वादीनां प्रयत्नजन्यत्वे किं मानमित्यत्राह ।

कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृति-विनाशयोः ।

विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ॥ ५ ॥

धृति-विनाशयोः प्रयत्नजन्यत्वान्निरुपाधित्वं । विच्छेदेनान्तरा

निरासः । ननु विलीयतामत्र हेतुनान्नमित्यत्र आह, हेतुभाव इति, अन्य-व्यति-  
रेकाभ्यां घटादौ दण्डादेरिव कार्यमात्रे कृतेरपि हेतुत्वप्राप्तात् तदभावे अङ्कुरादिकाभ्यां-  
त्यसिर्न भवतीत्यर्थः । विशेषस्थिति चेष्टात्मकक्रियाविशेषः भोक्तृप्रयत्नजन्यत्वरूपविशेष-  
धर्मवान्, तथाच यद्विशेषयोरिति न्यायात् सामान्यतः क्रियात्वावच्छिन्ने सामान्यतः  
प्रयत्नत्वेन हेतुत्वसिद्धिरिति भावः । अन्यथा तत्तत्कारणस्य तत्तत्कार्यहेतुत्वे सामान्यतो  
दण्डत्वादिना घटादिकं प्रति हेतुत्वविलयापत्तेः । टीकायां कर्त्तारमिति कृतिविशिष्ट-  
मित्यर्थः, तेन कृतेरपि हेतुत्वलाभः, कार्यमिति तथाच कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कृतेहेतुतया  
तन्मूलकतर्कसत्त्वेन न-कर्मत्वं प्रयत्नजन्यत्वे अप्रयोजकमिति भावः । दृष्टसङ्कारिणैवेत्येव-  
कारेण हेतुभावे फलाभाव इत्यर्थोविहतः, तथाच प्रयत्नाभावे अदृष्टमात्रस्य न फलजनकत्व-  
मिति भावः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं प्रयत्नप्रतिरूपपतनकं धृतिमत्त्वात् ब्रह्माण्डनाशः प्रयत्नजन्यः नाशत्वादि-  
त्यादौ अनुकूलतर्कं दर्शयितुं शक्नोते नन्वित्यादिना, किं मानमिति तथाच धृतिविशेषस्य  
विनाशविशेषस्य च प्रयत्नविशेषजन्यत्वेऽपि तत्सामान्ये तत्सामान्यजन्यत्वे मानाभाव इति  
भावः । कारिकायां कार्यत्वादित्यादि एवं पूर्वोक्तरीत्या क्रियासामान्य-प्रयत्नसामान्ययोः  
कार्य-कारणभाववदिति यावत्, धृति-विनाशयोः धृतिसामान्य-विनाशसामान्ययोः प्रयत्न-  
सामान्यजन्यत्वात् निरुपाधित्वम् 'अव्यभिचरितत्वं', तथाचात्र कार्य-कारणभावरूपाणु-  
कूलतर्कस्य व्यभिचारसंशयनिवर्त्तकत्वमिति भावः । पदस्यापीति कार्यत्वान्निरुपा-  
धित्वमिति पूर्वोक्तान्वयः, पदस्य व्यवहारस्य कार्यत्वात् स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यत्वान् निरुपा-



प्रलयेन आदर्शाद्यभावात् अर्वाग्दर्शी नाद्यव्यवहारमूलं व्यवहारानभिज्ञत्वादिति सर्गाद्यकालौनघटादिव्यवहारप्रवर्तकः पुरुषः सिद्धयति । एवं प्रत्ययादेर्वेदजन्यधीप्रामाण्यादेरपि निरुपाधित्वम् । अथ वा कार्य्येत्यादिकमन्यथा व्याख्यायते । कार्य्यं तात्पर्य्यं, तात्पर्य्यविषय एव शब्दप्रामाण्यमिति तात्पर्य्यं हि यस्य वेदे स एवेश्वरः । आयोजनं व्याख्यानं, वेदास्तदर्थविद्वद्वाख्याताः महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात्, अव्याख्यातत्वे पदार्थानवगमेऽननुष्ठानापत्तेः,

धित्वम् अव्यभिचरितत्वमित्यर्थः । नन्वयमनादिघटादिव्यवहारः पूर्वपूर्वकुलालादिप्रयुक्त एव भविष्यति किमौश्वरेणेत्यत आह, विच्छेदेनेति प्रलये विच्छेदादयं व्यवहारो न अनादिस्थाच्च सर्गादौ तद्व्यवहारप्रवर्तकः कश्चिदपेक्षित इति भावः । प्रत्ययादेश्य वेदजन्यशब्दधीप्रामाण्यादेय निरुपाधित्वं पूर्ववत् कार्य्य-कारणभावरूपानुकूलतर्कादेव शब्दप्रमायां वक्तृयथार्थज्ञानरूपगुणजन्यत्वव्यवस्थापनादिति भावः । प्रत्ययादेरित्यादिपदेन श्रुति-संख्याविशेषपरिग्रहः । टीकायाम् आदर्शाद्यभावात् व्यवहारदर्शकाभावादित्यर्थः, अर्वाग्दर्शी पूर्वव्यवहारादर्शी, नाद्यव्यवहारमूलं नाद्यव्यवहारप्रवर्तक इत्यर्थः, स्वतःसिद्धज्ञानाभावादिति भावः ।

वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तमौसकं प्रति परमेश्वरस्वीकाराय कार्य्यायोजनेत्यादिकारिकामन्यथा व्याख्यातुं प्रतिजानीते अथ वेति, कार्य्यमिति कार्य्यत्वम् उद्देश्यत्वम् उद्देशोऽभिप्रायः स एव तात्पर्य्यमिति कार्य्यपदस्य तात्पर्य्यवाचित्वं, तात्पर्य्यमिति तदेव परम् उद्देश्यं यत्नेति व्युत्पत्त्या यदुद्देशेन यः शब्दः प्रयुज्यते स तत्परः तस्य भावः तात्पर्य्यं तच्च इच्छाविशेषः । अतएव प्रशंसावाक्यं प्रवृत्तिमुद्दिश्य प्रयुज्यते इति तत् प्रवृत्तिपरं निन्दावाक्यञ्च निवृत्तिमुद्दिश्य प्रयुज्यते तन्निवृत्तिपरमुच्यते । तात्पर्य्यविषय एवेति एतद्व्याख्यात् एतदर्थविशेष्यकैतदर्थप्रकारकबोधो भवत्विति वक्तृतात्पर्य्यविषयवाक्यार्थ एवेत्यर्थः, शब्दप्रामाण्यं शब्दनिष्ठप्रामाण्यं, तच्च तात्पर्य्यविषयवाक्यार्थशब्दबोधजनकत्वं, नितात्पर्य्यकाधुनिकवाक्यानां प्रामाण्यव्यवहाराभावात् । एकार्य्यतात्पर्य्येण मूलवक्त्रा यदुच्चरितमनुवक्त्रा अन्यार्थतात्पर्य्येण तदुच्चारणेन श्रोतुरन्यार्थबोधजननेऽपि तद्व्याख्यात्यार्थं प्रामाण्याव्यवहारात् तात्पर्य्यपदं मूलवक्तृतात्पर्य्यपरम्, एवञ्च वेदः सतात्पर्य्यकः प्रमाणशब्दत्वादित्यनु-



एकदेशदर्शिनश्च व्याख्यायां नाश्वासः । एवं धृतिधारणं, धृत्यादे-  
रित्यादिग्रहणात् अनुष्ठानसंग्रहः । एवमोश्वरादिपदार्थतया ईश्वर-  
सिद्धिः । तदुक्तम् “उद्देश एव तात्पर्यं” व्याख्या विश्वदृशः सती ।  
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः ॥ उद्देश इच्छाविशेषः ।  
एवम् “अहं सर्वस्य प्रभवः” इत्यादावहंपदं स्वतन्त्रोच्चारयित्वापरं,  
लोकस्थले सतात्पर्यकशब्दस्यैव प्रमाणत्वात् “य एव लौकिकास्त-

मानेन वेदे तात्पर्यसिद्धावध्यापकतात्पर्यमादाय न सिद्धसाधनं भमादिशून्यस्वतन्त्रपुरुष-  
तात्पर्यस्यैव प्रमाणप्रयोजकत्वेन साध्यत्वात् । स एवेश्वर इति तदन्यस्य सकलवेदार्थ-  
दर्शिताभावादिति भावः । न च वेदे स्वतन्त्रवस्तुपरमेश्वरतात्पर्यसाधने साध्याप्रसिद्धि-  
रिति वाच्यम् । यद्वाक्यं यदर्थं प्रमाणव्यवहारविषयः तद्वक्तव्यं स्वतन्त्रपुरुषीयतात्पर्य-  
विषयतदर्थबोधजनकमिति सामान्यव्याप्ता वेदे तत्तदर्थविषयकप्रमाणव्यवहारविषयत्व-  
ज्ञानात् कथञ्चिद्विशेषसिद्धेः । न चैतादृशतात्पर्यरूपसाध्यघटकतयेश्वरसिद्धावपि तात्-  
पर्यस्य ईश्वरासाधकत्वात् तात्पर्यबोधककार्यपदोत्तरपक्षमीविभक्त्यसङ्गतिरिति वाच्यम् ।  
निरुक्तसाध्यघटकतया कस्यचित्पुरुषस्य सामान्यतः सिद्धावनन्तरं तस्य नित्यसर्वविषयक-  
ज्ञानवस्वरूपेश्वरत्वेन विशेषतः गृह्य इति तात्पर्यस्य परमेश्वरसाधकत्वात् । अतएवोक्तं  
तात्पर्यं हि यस्य वेदे स एवेश्वर इति, एवमुत्तरत्वापि बोध्यम् । आयोजनमिति आ सख्य-  
भावेन योजनम् इति व्युत्पत्त्या आयोजनपदस्य व्याख्यापरत्वम् । तदर्थविद्वद्वाक्याः  
सकलवेदार्थदर्शिविशिष्टाः काः, महाजनपरिगृहीतवाक्यत्वात् महाजनानुष्ठीयमान-  
विषयबोधकवाक्यादित्यर्थः । एकदेशदर्शिन इति वेदैकदेशदर्शिनः असर्वज्ञस्यैत्यर्थः,  
नाश्वासः न विनाशः । धारणं वेदधारणं वेदाध्ययनमिति यावत्, तथाच “स्वाध्यायो-  
ऽध्येतव्यः” इति स्मृतिसूत्रकं वेदाध्ययनं स्वतन्त्रप्रमाणपुरुषमूलकं शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वात्  
इत्यनुमानेन साध्यघटकतया ईश्वरसिद्धिरिति भावः । धृत्यादेरित्यादिपदवाक्याह  
अनुष्ठानसंग्रह इति, अनुष्ठानम् उपासनं, तथाचायं प्रयोगः उपासनं सङ्घिषयकं शिष्टैरनु-  
ष्ठीयमानत्वात् इति । केचित्तु धारणं ज्ञानविशेषः, तथाच वेदाः एतदविषयकानित्यज्ञानान्य-  
ज्ञानवद्भूताः वाक्यत्वात् सा ते भवन्त्यादिवाक्यवत् । एवं यागादिः यागाविषयकानित्य-  
ज्ञानान्यज्ञानवद्गुणितः अनुष्ठितत्वात् पात्रादिवदिति प्रयोगाविति वदन्ति । ईश्वरादि-



एव वैदिकाः” इति लौकिकाहमादिपदवदलौकिकेऽपीयमेव व्यवस्था ।  
प्रत्ययतः विधिप्रत्ययात्, आत्माभिप्रायोविध्यर्थः, यस्याभिप्रायः  
स एवेश्वरः ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातः, यतश्च सा ।

तत् ज्ञानं, विषयस्तस्य विधिः, तज्ज्ञापकोऽथ वा ॥६॥

विधिजन्यज्ञानात् प्रवृत्तिर्दृश्यते, सा च इच्छातश्चिकीर्षातः,  
चिकीर्षा च कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनताज्ञानात्, तज्ज्ञानस्य विषयः  
कार्यत्वम् इष्टसाधनत्वञ्च विधिरिति प्राचीनमतम् । स्मृतमाह

पदार्थतयेति, तथाचायं प्रयोगः ईश्वरपदं जगदुत्पादकर्तृपरं तत्त्वेन वेदबोधितत्वादिति,  
तथाच श्रुतिः “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” इत्यादि । तदुक्तमिति, मूलकारि-  
णेति शेषः, तदुक्तमित्यनेन प्रमाणोपन्यासि अन्यप्रमाणं प्रतीयत इति तदुक्तमित्यनेन  
स्वीयप्रमाणोपन्यासस्य सन्दर्भविरुद्धत्वं प्रतिभाति । इच्छाविशेष इति, तथाच विश्व-  
दृशः सर्वज्ञस्य इच्छाविशेष एव वेदे तात्पर्ये न त्वपरस्य, एवं सर्वज्ञस्य वेदव्याख्येव  
सती निश्चितप्रामाण्या निर्दोषेति यावत् इति पूर्वावस्य तात्पर्यम् । लौकिकज्ञानुसारत-  
इत्यस्यार्थमाह, एवमित्यादि, स्वतन्त्रोच्चारयित्वपरमिति, तथाचायं प्रयोगः अलौकिकाहं-  
पदं स्वतन्त्रोच्चारयित्वपरम् अहम्पदत्वात् लौकिकाहम्पदवदिति । य एव यादृशा एव,  
त एव तादृशा एव । इयमेव व्यवस्था लौकिकशब्दप्रामाण्यवद्वैदिकशब्दप्रामाण्य-  
व्यवस्थेत्यर्थः । यस्याभिप्राय इति वैदिकलिङ्गादर्थ इति शेषः, प्रयोगस्तु स्वर्गकानो-  
ऽयमेवेन यजेतेत्यादिश्रुतिचटकलिङ्गप्रत्ययः आत्माभिप्रायवाचकः लिङ्प्रत्ययत्वात् लौकिक-  
लिङ्प्रत्ययवदित्येवंरूपः ॥ ५ ॥

आद्या प्रवृत्तिरिच्छैव इति प्रयोगात् यद्यपीच्छा अन्यत्र प्रवृत्तिशब्दार्थः तथापि विधि-  
प्रस्तावे कृतिरेव प्रवृत्तिशब्दार्थः इच्छामात्रेण विध्यर्थनिर्वाहे बहुविधव्ययायाससाध्य-  
यागाद्यकरणप्रसङ्गः, कृती नायं दोषः फलपर्यवसानायाः कृतेर्निर्वाडार्थं यागाद्यगुष्ठान-  
स्योपयोगित्वमिति सूचयितुमाह, कारिकायां प्रवृत्तिरिति, अत्र विधिप्रस्तावे, टीकायां  
चिकीर्षात इति इदं कृत्वा साधयामोत्येवंरूपकृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छात इत्यर्थः, कार्यत्वं



तज्ज्ञापकोऽयं वेति । इष्टसाधनत्वानुमापक आत्माभिप्रायो विधि-  
प्रत्ययार्थः ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिप्रयोजकेच्छाहेतुज्ञानविषयं परिशेषयति,—

इष्टहानेरनिष्टाप्ते रप्रवृत्तेर्विरोधतः ।

असत्त्वात् प्रत्ययत्यागात् कर्तृधर्मो न सङ्करात् ॥७॥

स्पन्दस्य कर्तृधर्मस्य प्रवृत्तिप्रयोजकत्वे आत्मानं विजानीयादि-  
त्यत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, आत्मं गच्छतोत्थतः प्रवृत्त्यापत्तेश्च । यत्नस्य  
विधित्वे दोषमाह, अप्रवृत्तेः, आख्यातान्तरेण यत्ने बोधितेऽपीष्ट-  
साधनत्वाप्रतिसन्धाने अनिष्टसाधनत्वज्ञाने वाऽप्रवृत्तेः । इच्छाया-  
विधित्वे दोषमाह विरोधत इति । इच्छाया विधित्वे इच्छयैव  
तज्ज्ञानं जननीयम्, इच्छाया ज्ञानेन चेच्छा जननीया, इत्यन्योन्या-

कृतिसाध्यत्वं, विधिरिति विधिप्रत्ययार्थ इत्यर्थः, इष्टसाधनत्वानुमापक इति तथाच इष्ट-  
साधनत्वस्यान्यलभ्यत्वेन न विध्यर्थत्वम् अनन्यलभ्यः शब्दार्थ इति नियमात्, आत्माभिप्रायस्य  
अनन्यलभ्यत्वेन शब्दार्थत्वमिति भावः ॥ ६ ॥

प्रवृत्तीति, प्रवृत्तिप्रयोजकचिकीर्षाहेतुज्ञानस्य कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वविषयकत्वं  
पर्यवसितुं विचारयतीत्यर्थः, चेष्टात्मकस्पन्द-प्रयत्न-चिकीर्षामेदेन विविधस्य कर्तृधर्मस्य  
विधित्वे दोषमाह, इष्टेत्यादि । टीकायां कर्तृधर्मस्येति, न च स्पन्दस्य शरीरवृत्तित्वेन  
कथं कर्तृधर्मत्वमिति वाच्यम् । समवायावच्छेदकत्वान्यतरसम्बन्धेन कृत्याश्रयस्य कर्तृप-  
देन विवक्षितत्वात् । प्रवृत्तिप्रयोजकत्वे विषयतया प्रवृत्तिहेतुज्ञाननिष्ठजनकतावच्छेद-  
कत्वे, अप्रवृत्तिप्रसङ्गादिति इष्टहानेरित्यंशस्य विवरणं, तथाच आत्मानं विजानीया-  
दिति वाक्यात् चेष्टात्मकस्पन्दानवगमेन प्रवृत्त्यभावप्रसङ्ग इति भावः । प्रवृत्त्यापत्ते-  
रिति अनिष्टाप्ते रित्यंशस्य विवरणं, तथाच आत्मं गच्छतीतिवाक्यात् चेष्टात्मकस्पन्दस्याव-  
गमात् प्रवृत्त्यापत्तिरिति भावः । यवस्येति कर्तृधर्मस्येत्यादिः, आख्यातान्तरेण लङ्गा-  
दिनां । इच्छाया विधित्व इति चिकीर्षाया विधित्व इत्यर्थः, इत्यन्योन्याश्रय इति,  
तथाच विध्यर्थज्ञानजन्या चिकीर्षा प्रवृत्तिजनिकीति नियमात् प्रवृत्त्यनुकुलेच्छा विध्यर्थः



अयः, तदिदमुक्तं विरोधत इति । नन्विच्छाज्ञानं लिङा जन-  
नोयम् इत्यत्राह, असत्त्वादिति । इच्छाज्ञाने जाते प्रवृत्तिहेतु-  
स्वरूपसदिच्छाऽभावात् प्रवृत्तिर्न स्यात्, इच्छायाः स्वरूपसत्त्वा-  
एव प्रवृत्तिहेतुत्वात् । न च लिङ्श्रवणकाले इच्छा स्वरूपसत्ती-  
त्यर्थः । ननु लिङेव इच्छाजनिका इत्यत्राह, प्रत्ययत्यागादिति ।  
इच्छाकारणत्वेन गृहीतस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य कारणस्य त्यागापत्तेः  
व्यभिचारादित्यर्थः । लिङ्श्रुतिकाले सुखत्वादिप्रकारकधीजन्येच्छा  
लिङ्गर्थ इत्यत्राह, सङ्गरादिति । इष्टसाधनताज्ञानस्य उपायेच्छा-  
हेतोरवश्यं स्वीकारात् तत्र च कारणान्तराभावात् लिङ्पदमेव  
कारणम्, अतः फलेच्छाज्ञानं न प्रवृत्तिहेतुः, तद्विनापि प्रवृत्ति-  
सम्भवात् । तथाच सङ्गरादिष्टसाधनत्वज्ञानरूपसाधनसहचारत्वात्,  
इच्छाज्ञानस्य इच्छाजनकत्वे मानाभावेन तस्य लिङ्पदजन्यत्वे  
मानाभावाच्चेति ॥ ७ ॥

ज्ञानमपेक्षते, इच्छारूपविध्यर्थज्ञानञ्च लौकिकमानसप्रत्ययरूपमिति तत्र लौकिक-  
प्रत्ययहेतुविषयरूपा इच्छा अपेक्षणीयत्वान्वाग्रय इति भावः । लिङा जननीयमिति  
तथाच लौकिकप्रत्यय एव विषयस्य हेतुत्वेन शाब्दात्मकेच्छाज्ञाने तस्याहेतुत्वान्वाग्रय-  
इति भावः । प्रवृत्तिर्न स्यादिति असत्त्वादित्यत्र विवरणं, तथाच स्वरूपसदिच्छायाम्  
इच्छाज्ञानस्य न हेतुत्वमिति भावः । इच्छाजनिकेति इच्छाज्ञानहारेति शेषः, ज्ञान-  
स्येति इष्टसाधनताज्ञानस्येत्यर्थः, व्यभिचारादिति इष्टसाधनताज्ञानरूपकारणासत्ते लिङा  
इच्छीत्यन्तौ कारणासत्ते कार्यसत्त्वरूपव्यतिरेकव्यभिचारादित्यर्थः । फलेच्छाज्ञानं उपायेच्छा  
प्रति हेतुः इति धर्मेणाशङ्कते, लिङ्श्रुतिकाल इति, सुखत्वादिप्रकारकधीजन्येच्छेति  
सुखादिरूपफलेच्छेत्यर्थः, तथाच लिङा फलेच्छाज्ञानं जायते ततः चिकीर्षारूपोपायेच्छा  
ततः प्रवृत्तिरिति विधिवान्वयः प्रवर्तकत्वमिति भावः । तत्र च इष्टसाधनत्वहेतु च, कार-  
णान्तराभावात् लिङ्पदतिरिक्तकारणाभावात् । ननु फलेच्छाज्ञानस्य कारणत्वे इष्ट-  
साधनत्वज्ञानहेतुत्वं न बाधकमिति चेत्, तद्विनापीति फलेच्छाज्ञानं विनापीत्यर्थः,  
इष्टसाधनत्वज्ञानरूपसाधनसहचारत्वादिति सङ्गरादित्यस्य विवरणम्, अवसक्तं इष्टसाध-



ननु यत्तज्ज्ञानमेव प्रवर्तकमसु, आख्यातान्तरञ्च न यत्नवाचकम्,  
अनुकूलव्यापारमात्र एव आख्यातशक्तेः, रथोगच्छतीत्यादौ तथा  
कल्पनात्, तत्राह,—

कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया ।

यत्न एव कृतिः, पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥ ८ ॥

घटः कृतोऽङ्कुरो न कृत इति व्यवहारात् कुलालादिः कर्ता  
न कारकान्तरमिति कर्त्र्वात्वर्थः, कृतिः । ननु यत्नपदपर्यायता  
स्यादत्त आह, पूर्व्वेति, परस्मिन्नुत्तरकालवर्त्तिनि फले विद्यमाने सैव  
कृतिरेव पूर्वा साधनीभूता, भावना, फलानुकूलतापन्नयत्न-  
एवाख्यातार्थः । यद्वा फलानुकूलव्यापारधात्वर्थप्रचयजनिका पूर्वा-

नताज्ञानेन फलेच्छाज्ञानस्य अन्यथासिद्धत्वादित्यर्थः । उपसंहरति, इच्छाज्ञानसेच्छाजन-  
कत्व इति ॥ ७ ॥

आख्यातान्तरञ्चेति लडादिकचेत्यर्थः, तथाच शास्त्रं गच्छतीति वाक्यस्य श्रवणीष-  
कत्वात् प्रवर्तकत्वमिति भावः । कारिकायां, कृताकृतविभागेनेति घटः कृतः अङ्कुरो न  
कृत इति विभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया कर्तृत्वव्यपदेशस्य प्रतिनियतत्वेन यत्न एव कृतिः  
करोतीत्यर्थः, ननु यत्नस्य करोत्यर्थत्वेऽपि कथमाख्यातार्थत्वमित्यत आह, कारिकायां पूर्व्वेति,  
परस्मिन् उत्तरकालवर्त्तिनि फले पूर्वा साधनीभूता सैव कृतिरेव भावना भाव्यते फल-  
मनया इति व्युत्पत्त्या आख्यातपदवाच्या इति समुदितकारिकार्थः । टीकायां घटः कृत-  
इत्यादि तथाच क्रियाजन्यत्वाविशेषेऽपि यत्नजन्यत्वप्रतिसम्मानाप्रतिसम्मानाभ्यामेव घटाङ्क-  
ुरयोः कृताकृतव्यवहारात् कुलालादिरेव कर्त्तृत्वर्थः, न कारकान्तरमिति न दण्ड-चक्रादि-  
कारणान्तरमित्यर्थः, तथाच यदि व्यापारमात्रस्य करोत्यर्थत्वं तदा दण्ड-चक्रादिव्यापार-  
स्यापि कार्यजनकत्वात् दण्ड-चक्रादावपि कर्तृव्यवहारः स्यादिति भावः । फलानुकूलता-  
पन्नयत्न एवेति तथाच करोतेः शक्यतावच्छेदकं यत्नत्वम्, आख्यातस्य शक्यतावच्छेदकं  
फलानुकूलतापन्नयत्नत्वम् इति शक्यतावच्छेदकमेदात् करोतेर्न यत्नपदपर्यायत्वमिति भावः ।  
ननु पक्षव्यपि भाविप्रयत्नप्रागभावस्य वृत्तप्रशब्दस्य सत्त्वात् पक्ष्यत्वपाक्षीदित्यपि प्रयोगः



परस्मिन् पूर्वापरीभूतत्वे सति, कृतिराख्यातार्थः, तथाच प्रयत्नवत्त्वमनकूलत्वं पूर्वापरिभूतत्वमिति त्रयमर्थः ॥ ८ ॥

ननु धातुना यत्नः प्रतीयते, आख्यातस्य च अनुकूलव्यापारमात्रार्थकत्वम्, आक्षेपादेव च यत्नलाभ इत्यत आह,—

भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः ।

तथा विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥ ९ ॥

तथा कृत्वा तद्वाचकपदेन, पचति पाकं करोतीति विवरणात् तत्र शक्तिः । अनुकूलव्यापारस्य यत्नानाक्षेपकत्वात् । वर्तमान-

स्यादित्यत आह, यद्वेति, पूर्वापरीभूतत्वे सतीति, तथाच पूर्वापरीभूतत्वमिति कलाप एवाख्यातार्थः तादृशान्यतमप्रयत्नसत्त्वे पचतीति तेष्वप्यप्रयत्नप्रागभावसत्त्वे पच्यतीति अन्यप्रयत्नस्य ध्वंससत्त्वे अपाचीदिति प्रयोगस्य प्रामाणिकत्वात् पूर्वापरीभूतान्यतमप्रयत्नस्य पचतीति व्यवहारनियामकत्वं, तादृशान्यतमप्रयत्नान्यध्वंसस्य अपाचीदिति व्यवहारनियामकत्वमिति भावः । त्रयमर्थः इति, गुरुधर्मावच्छिन्ने एकशक्तिकल्पनामपेक्ष्य लघुधर्मावच्छिन्ने विभिन्नशक्तिकल्पनायां लाघवमिति मतेनेदम् । न च विभिन्नशक्तिकल्पने कथं विशिष्टार्थलाभ इति वाच्यम् । विशिष्टार्थस्य अन्यथवलम्ब्यत्वादिति ॥ ८ ॥

धातुना कृज्धातुना, अनुकूलव्यापारार्थकत्वमिति रथो गच्छतीत्याद्यनुरोधादिति शेषः । आक्षेपादेव अनुमानादेव, अनुमानच्च चेतः पचतीत्यादौ चेतः पाकानुकूलकत्वमान् पाकानुकूलव्यापारवत्त्वादित्येवंरूपम् । कारिकायां सर्वाख्यातस्य गोचर इति सर्वाख्यातजन्यप्रतीतिविषय इत्यर्थः । टीकायां तत्र शक्तिरिति तत्र यद्वे आख्यातस्य शक्तिरित्यर्थः, बाधकं विना विवरणस्य शक्तियाहकत्वादिति शेषः । नच रथो गच्छतीत्यत्र का गतिरिति वाच्यम् । तत्र लक्षणया अनुकूलव्यापारबोधनात् । अचेतनेऽपि भावादिति काष्ठादौ पाकानुकूलव्यापारस्य सत्त्वादित्यर्थः, तथाच व्यभिचारेण उक्तानुमानं न सम्भवतीति भावः । ननु आख्यातस्य यत्नार्थकत्वे ओदनमिति कर्मपदोच्यं पचति भुङ्क्ते वेति आख्यातार्थविशेषजिज्ञासा न सम्भवति विशेषजिज्ञासां प्रति सामान्यज्ञानस्य हेतुतया कर्मपदस्य यत्नसामान्यानुपस्थापकत्वात् आख्यातस्य व्यापारार्थकत्वे च



पाकानुबन्धव्यापारस्याचेतनेऽपि भावात् । ओदनमिति कर्मपदो-  
त्तरं पचति भुङ्क्ते वेति जिज्ञासा च कर्मणः कृतिव्याप्यत्वप्रति-  
सन्धानेन यथा पचतीत्यनन्तरं कर्मादौ जिज्ञासा ॥ ९ ॥

ननु कर्तुरपि विवरणात् तत्रापि शक्तिराख्यातस्य स्यात्  
तत्राह,—

आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना ।

संख्येयमात्रलाभे तु साकाङ्क्षेण व्यवस्थितिः ॥ १० ॥

आख्यातवाच्यया संख्यया आश्रयस्य आक्षेपादेव लाभान्न  
कर्त्तरि शक्तिकल्पना । प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वे सति आख्यातार्थ-  
विशेष्यत्वमाक्षेपलभ्यत्वम् । मुक्ता इत्यादौ ज्ञानान्तार्थानन्तर्यवार-

कर्मपदस्य परसमवेतव्यापारजन्यफलविशिष्टबोधकतया व्यापारसामान्योपस्थापकत्वात् व्यापार-  
सामान्योपस्थितौ व्यापारविशेषजिज्ञासासम्भवात् इत्याशङ्कामपनेतुमाह, ओदनमिति, तथाच  
कर्मपदस्य यत्रचटितार्थानुपस्थापकत्वेऽपि कर्मपदार्थस्य कृतिव्याप्यत्वप्रतिसन्धानेन कृतिसामान्यो-  
पस्थित्या कृतिविशेषजिज्ञासासम्भवात् । एतदेव द्रष्टव्यं यथेत्यादिना, कर्मादौ जिज्ञासा  
ओदनं तेमनं वा इति कर्मविशेषजिज्ञासेत्यर्थः । तथाच आख्यातस्य कर्माद्यनुपस्थापक-  
त्वेऽपि आख्यातार्थकृतौ कर्मव्यापकत्वप्रतिसन्धानेन कर्मसामान्योपस्थित्या पचतीत्यनन्तरं यथा  
कर्मविशेषजिज्ञासा तथा ओदनमित्यनन्तरं कर्मणः कृतिव्याप्यत्वप्रतिसन्धानेन कृतिसामान्यो-  
पस्थित्या कृतिविशेषजिज्ञासेति भावः ॥ ९ ॥

विवरणादिति पचतीत्यस्य पाकयत्रवानिति विवरणादित्यर्थः । कारिकायां आक्षेप-  
लभ्य इत्यादि, संख्येये संख्याश्रये कर्त्तरि, नाभिधानस्य कल्पना न शक्तेः कल्पना, तथा-  
चानन्वयलभ्यः शब्दार्थ इति नियमात् कर्तुर्नाख्यातपदवाच्यत्वम् । ननु आख्यातपदप्रति-  
पाद्यसंख्यायाः कर्त्तर्येवान्वयः न तु कर्मणि इति नियमः कथमुपपद्यते इत्याशङ्क्याह,  
संख्येयमात्रलाभे इत्यादि, तुरप्यर्थे, संख्यान्वयबलेन संख्याश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा लाभ-  
सम्भवेऽपीत्यर्थः, साकाङ्क्षेण भावनासाकाङ्क्षेण, भावनान्वयबोधानुबन्धानुपूर्वीमच्छब्द-  
प्रतिपाद्यत्वेनेति यावत्, व्यवस्थितिः संख्यान्वयनियमः, तथाच यत्र भावनान्वयः



णाय विशेषदलम् । सुप्यते इत्यादौ वर्तमानत्वविशेषत्वं स्वाप-  
स्यापीति सत्यन्तदलम् । चैत्रस्तण्डुलं पचतौत्यत्र द्वितीयार्थकर्मता-  
वरुद्धत्वात् तण्डुलस्य, न तत्र भावनाकाङ्क्षेति भावना शुद्धप्रातिपदि-  
कार्यान्वयिनी । अतएव यं यं भावनाऽन्वेति तं तं संख्यापीति,  
एकपदोपात्तभावनान्वयबलात् कर्त्तादिसंख्याभिधान एव प्रथमेति ।  
एवं कर्मापि नाख्यातपदवाच्यम् ॥ १० ॥

तत्रैव संख्यान्वयनियमात् कर्त्तृविहिताख्यातोपस्थाप्यसंख्यायाः कर्त्तरि, कर्मविहिताख्यातोपस्थाप्य-  
संख्यायाः कर्मणि अन्वय इति नियम इति समुदितकारिकातात्पर्यम् ।

टीकायां आक्षेपादेवेति अन्वयबलादेवेत्यर्थः । ननु आक्षेपलभ्य इत्यत्र किमिदम्  
आक्षेपलभ्यत्वं, न तावत् संख्यालिङ्गकानुमितिष्वप्यत्र, शब्दोपस्थापितसंख्यायास्तदुप-  
स्थापितेनैवान्वयनियमादित्यत्र आह, प्रथमान्वेति, विशेषदलमिति, तथाच भुक्तेत्यव्य-  
यस्य “लिङ्ग संख्याविनिर्मुक्तात् सुः पदत्वार्थमव्ययात्” इति सूत्रेण प्रथमान्वेऽपि विशेष-  
दलासत्त्वादेव वारणमिति भावः । भावनान्वये कर्मणो निराकाङ्क्षत्वे युक्तिमाह, चैत्र-  
स्तण्डुलमित्यादि, कर्मतावरुद्धत्वात् कर्मत्वविशेषणत्वतात्पर्यविषयत्वात्, तथाच मुख्य-  
विशेष्य एव भावनान्वयनियमेन कर्मणोमुख्यविशेष्यत्वासम्भव इति भावः । ननु तर्हि  
भावनाया कुत्रान्वय इत्याकाङ्क्षायामाह, भावनेति, शुद्धप्रातिपदिकार्थान्वयिनी नित्या-  
पारत्वेनोपस्थितप्रातिपदिकार्थान्वयिनीत्यर्थः । अग्निना चैत्र ओदनं पचतौत्यत्र चैत्र-  
पदार्थस्य नित्यापारत्वेनोपस्थितस्य भावनात्मकव्यापारसाक्षात्त्वात् भावनायाश्चाश्रया-  
काङ्क्षत्वात् तेनैव भावनान्वेति, न कर्म-करणादिना, द्वितीयादिना तस्य व्यापारवत्तयोप-  
स्थितेर्व्यापारान्तरनिराकाङ्क्षत्वात्, न हि व्यापारवत्त्वं व्यापार आश्रयते । ओदनः  
पच्यते चैत्रेणेत्यत्र कर्त्तुर्व्यापारवत्त्वेनोपस्थितेन तत्र भावनान्वयः किन्तु प्रथमानिर्दिष्टेन  
कर्मणा, तस्य व्यापारवत्त्वेनानुपस्थितेस्तत्साक्षात्त्वात् । चैत्रेण सुप्यते इत्यत्र तु  
कर्त्तुर्व्यापारवत्त्वेनोपस्थितेः कर्मण्यसामावात् प्रालयेनैव संख्याया अन्वय इत्यादिकमत्र  
विभावनीयम् । ननु कर्मणो भावनान्वयनिराकाङ्क्षेऽपि संख्यान्वये किं बाधकमित्यत-  
आह, यं यमित्यादि, अत्र हेतुमाह, एकपदोपात्तेति, तथाच भावनायाः संख्यायाश्च  
एकपदोपस्थाप्यत्वरूपान्तरङ्गत्वसत्त्वात् एकस्यान्वयिव्यापारस्यान्वय इति भावः । ननु



नन्वसु कर्मधर्मोविधिः, तत्राह,—

अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः ।

तदलाभान्न कार्य्यञ्च न क्रियाऽप्यप्रवृत्तितः ॥ ११ ॥

कर्म स्वर्गादि, तद्धर्मः कार्य्यत्वं यदि विध्यर्थः तत्राह, अतिप्रस-  
ङ्गान्न फलम् । स्वर्गे कार्य्यत्वज्ञाने सति स्वर्गासाधनेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः ।  
यदि कर्म अपूर्वं, तद्धर्मः कार्य्यत्वं विध्यर्थस्तत्राह, नापूर्वं तत्त्व-  
हानितः । शब्दबोधात् पूर्वं नोपस्थितमित्यत एवापूर्वं, पूर्वमुप-  
स्थितौ च न तत्त्वम्, अनुपस्थितौ च कथं तत्र शक्तिधीः । ननु  
कार्य्यत्वरूपेण शक्तिधीः, शब्दबोधे तु योग्यतया अपूर्वस्य कार्य्य-  
विशेषश्च भानं तत्राह, तदलाभान्न कार्य्यञ्चेति । नित्यनिषेधा-  
पूर्वयोरलाभप्रसङ्गात्, तत्र फलकामस्य नियोज्यस्याभावात् । यद्वा

आख्यातेन कर्तुरनुकूले “उक्तात् सुभोजसः” इति सूत्रेण कथं कर्तृबोधकपदोत्तरं प्रथमा-  
निर्वाह इत्याशङ्क्याह, कर्त्तादिसंख्याभिधान एवेति, तथाच यत्पदोपस्थित्ये कर्त्तादि-  
संख्यान्वयस्यपदोत्तरं प्रथमाविभक्तिरिति तादृशसूत्रस्य तात्पर्य्यमिति भावः । कर्मापीति  
चैत्रेण ओदनः पच्यते इत्यादावित्यादि, नाख्यातपदवाच्यमिति, तथाच कर्मण आद्ये प-  
लभ्यत्वात् न कर्मणि कर्मविहित्वाख्यातपदवाच्यत्वमिति भावः ॥ १० ॥

कर्मधर्म इति कर्मणां स्वर्गादीनां धर्मः कार्य्यत्वं विध्यर्थः इत्यर्थः, तथाच क्रियत-  
इति व्युत्पत्त्या कर्मपदेन यदि फलं स्वर्गाद्युच्यते, तन्निष्ठकार्य्यत्वज्ञानं प्रवर्त्तकम्, अथवा  
कर्मपदेन स्वर्गासाधनमपूर्वं तन्निष्ठकार्य्यत्वज्ञानं प्रवर्त्तकम्, अथवा कर्मपदेन अपूर्वसाधन-  
यागादिकं, तन्निष्ठकार्य्यत्वज्ञानं प्रवर्त्तकमिति भावः । आद्ये दोषमाह, अतिप्रसङ्गा-  
दिति, न फलमिति फलीभूतस्वर्गादिनिष्ठकार्य्यत्वं न विध्यर्थ इत्यर्थः । द्वितीये दोष-  
माह, यदीत्यादि, कार्य्यत्वरूपेण शक्तिधीरिति कार्य्यत्वरूपेण घटादौ शक्तिग्रह इत्यर्थः,  
शब्दबोध इति यागविषयकं स्वर्गकामकार्य्यम् इत्यन्वयबोध इत्यर्थः, योग्यतया याग-  
जन्यत्वरूपयागविषयकत्वान्वयप्रयोजकरूपवत्तया, तथाच धर्मविशेषमनन्तर्भाव्यैव तत्-  
प्रकारकशब्दबोधे तत्प्रकारकशक्तिग्रहस्य हेतुत्वात् कार्य्यत्वेन घटादौ लिङ्पदशक्ति-



ननु कार्यत्वेनोपलक्षितायामपूर्वव्यक्तौ शक्तिग्रहः, गन्धवत्त्वेनोप-  
लक्षितायां पृथिवीत्वविशिष्टायां व्यक्तौ पृथिवीपदस्येव इत्यत्राह,  
तदन्ताभात् । अपूर्वत्वविशिष्टापूर्वव्यक्त्यनुपस्थितेः, गन्धवत्त्वेनापि  
हि पृथिवीत्वविशिष्टस्य स्मरणमनुमानं वा सम्भवति, प्रागनुभवात्,  
प्रकृते तथात्वेऽपूर्वत्वव्याघातादित्यर्थः । ननु कर्म यागादि, तद्धर्मः  
कार्यत्वं विधिः, तत्राह, न क्रियाऽपीति । अनिष्टसाधनताधीकाले  
प्रवृत्त्यदर्शनात् । अत्र अपिना नापूर्वमपि, उक्तदोषादित्यर्थः ॥११॥

ननु कारणं शब्दः तद्धर्मोऽभिधा, तज्ज्ञानं प्रवर्तकम् । अत-  
एवाहुः, “अभिधां भावनामाहुरन्यामिव लिङ्गादयः । अर्थात्म-

रुहात् योग्यतावलेन कार्यत्वप्रकारकापूर्वमुख्यविशेष्यकाल्यबोध इति भावः । नित्य-  
निषेधापूर्वयोरिति सन्ध्यामुपासीतेति नित्ये अष्टम्यां मांसं नञीयादिति निषेधे च  
अपूर्वालाभप्रसङ्गादित्यर्थः, तथाच काम्यस्थले आशुविनाशिनां यागादीनां कालान्तर-  
भावविशर्गादिफलसाधनत्वान्नयानुपपत्त्या अपूर्वमवश्यकल्पनीयं, नित्य-निषेधस्थले फला-  
भावेन अपूर्वकल्पनायां प्रमाणाभाव इति भावः । नियोन्यस्येति प्रवर्तनीयपुरुषस्येत्यर्थः,  
तथाच नियुज्यतेः प्रवर्तनार्थकत्वात् कर्मण्युत्पत्त्येन तत्कर्म उच्यते, प्रवर्तनाकर्म च  
तज्जन्यप्रवृत्तिमान् स एव नियोन्य इति भावः । पृथिवीपदस्येवेति, तथाच यथा  
गन्धवती पृथिवीपदशक्या इत्युपलक्षणविधया शक्तिग्रहे उत्तरकालं पृथिवीत्वेन शब्द-  
बोधः तथा कार्यं विशिष्टमिति कार्यलोपलक्षिते अपूर्वे शक्तिग्रहे उत्तरकालम्  
अपूर्वत्वेन अपूर्वस्य शब्दबोध इति पूर्वपक्षतात्पर्यम् । प्रागनुभवमिति तथाच गन्ध-  
वत्त्व-पृथिवीत्वयोः पूर्वानुभवजनितसंस्कारेण स्मरणस्य सहचारदर्शनेन पूर्ववृत्तौतव्याप्ति-  
प्रतिसम्भवेनानुमितेर्वा सम्भवात् तदन्यतरव प्रवृत्तिनिमित्तत्वसंग्रहे गन्धवत्त्वस्योपाधित्वेन  
सखलत्वात् पृथिवीत्वस्य च जातित्वेनाखलत्वात् तत्रैव शक्तिः कल्प्यते, प्रकृते तु  
अपूर्वत्वाप्रतीतौ तथा न सम्भवतीति सिद्धान्ततात्पर्यम् । तृतीयकल्पमाशङ्क्य निषेधति  
नन्वित्यादिना ॥ ११ ॥

भट्टमतमाशङ्क्य निषेधति, नन्वित्यादिना, कारणं शब्द इति शब्दबोधकारणं शब्द-  
इत्यर्थः, त्रायमानपदस्य शब्दबोधकारणत्वमिति मतेनेदम् । अभिधा शब्दनिष्ठव्यापार-



भावनां त्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः ॥” अभिधा यागप्रवर्तिका इति धीः शब्दादाख्यातार्थश्च उत्पादना उत्पत्त्यनुकूलकतिरूपेयमित्य-  
ताह,—

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधाऽपि गरीयसी ।

बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्घटः ॥ १२ ॥

विशेषः, तथाचोक्तं “शब्दव्यापारमेदोवा कार्यमेदोऽथवा विधिः ।” इति । अभिधा-  
मित्यादि, लिङादयः वैदिकलिङादयः, अन्यानि अर्थभावनातो भिन्नानि, अभिधाम्  
अभिधाख्यां, भावनां व्यापारविशेषम्, आहुः बोधयन्ति । अन्या शब्दभावनातोभिन्ना,  
अर्थात्मभावना अर्थः आत्मा आश्रयी यस्या इति व्युत्पत्त्या अर्थनिष्ठा भावना प्रवृत्त्यात्मका-  
व्यापारविशेषः, सर्वाख्यातस्य गोचरः सामान्यतः आख्यातत्वेन आख्यातपदप्रतिपाद्यः ।  
तथाच वैदिकलिङ आख्यातत्वेन विधित्वेन च प्रवृत्तिरभिधा च द्वयमेवार्थः इति भावः ।  
शब्दादिति वैदिकलिङात्मकशब्दादित्यर्थः, ननु विधिप्रत्ययेन अभिधा यागप्रवृत्तिजनिका  
इति प्रतीतिः कथं सम्भवति इत्यत आह, आख्यातार्थेति, तथाच आख्यातार्थ-विध्य-  
र्थयोजन्य-जनकभावसम्बन्धस्वीकारात् यजेतेत्यादी विधित्वेन प्रतिसन्धीयमानया लिङा  
उपस्थाप्यायाम् अभिधायाम् आख्यातत्वेन प्रतिसन्धीयमानया लिङा उपस्थाप्यायाः  
प्रवृत्तेः जनकत्वसम्बन्धेनान्वयात् प्रवृत्तौ यजधात्वर्थयागस्य विधित्वसम्बन्धेनान्वयाच्च यजेते-  
त्यनेन अभिधा यागप्रवर्तिका इति बोधः सुलभ इति भावः । भट्टानामयमाशयः,  
पुरुषस्य प्रवृत्तिर्विधा कश्चित् स्वेच्छया कश्चित् परप्रवर्त्तनया आचार्यप्रेरितोऽहं  
गमानयामि न तु स्वेच्छया इति व्यवहारात्, तथाच यत्र स्वेच्छया प्रवृत्तिः तत्र इष्ट-  
साधनत्वज्ञानं प्रवृत्तिजनकं, यत्र च परप्रवर्त्तनया प्रवृत्तिः तत्र प्रवर्त्तनाज्ञानं प्रवृत्तिजनकं,  
प्रवर्त्तना च प्रवर्त्तयित्वनिष्ठव्यापारविशेषः, स च चेतनप्रवर्त्तयित्वस्थले अहमेतन् प्रवर्त्तया-  
मीत्याकारकेच्छास्वरूपः, अचेतनवेदादिप्रवर्त्तयित्वस्थले लिङादिशब्दसमुवेताभिधानाम-  
कातिरिक्तपदार्थः, न च अभिधायाः शब्दसमुवेतले अद्रव्यस्य समवायिकारणत्वं  
स्यादिति वाच्यम् । भट्टमते शब्दस्य द्रव्यत्वेन तदापत्त्यसम्भवात् । न च कचिदिष्ट-  
साधनत्वज्ञानं कारणं कश्चित् प्रवर्त्तनाज्ञानमित्यननुगमः इति वाच्यम् । कार्यतावच्छेदक-  
कोटी अव्यवहितोत्तरत्वस्य प्रवेशादेवानुगमसम्भवात् । न च इच्छाभिधानेन भिन्नायाः



अभिधायां मानाभावात्, अभिधाशब्दतोऽभिधाज्ञानेऽपि अप्रवृत्तेः ।  
गरोयसी उचिता, लिङ्ग्यतयेति शेषः । ननु अन्यस्य लिङ्ग्यत्वे  
बाधात् परिशेषेणाभिधा लिङ्ग्य इत्यत्राह, बाधकस्येति । प्रकृतेऽपि  
बाधकसम्भवात् ॥ १२ ॥

प्रवर्तनायाः ज्ञानस्य कथमनुगतत्वेण कारणत्वं सम्भवतीति वाच्यम् । प्रवर्तयि-  
द्वनिष्ठव्यापारत्वेन प्रवर्तनाया अनुगमसम्भवात् । भावना हि द्विविधा शब्दभावना अर्थ-  
भावना च, द्वयोरेव किं केन कथमित्यवयवसापेक्षत्वं, तत्र च शब्दभावना शब्दनिष्ठ-  
व्यापारतया शब्दव्यापारपदवाच्या, तदुक्तं, “लिङ्गोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या  
च तस्याः पुरुषप्रवृत्तिः । सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गव्योपयुज्यते ॥”  
तस्याः किं भाव्यमित्याकाङ्क्षायामाह पुरुषप्रवृत्तिरिति पुरुषप्रवृत्तिरेव भाव्या, केनेत्या-  
काङ्क्षायामाह सम्बन्धबोध इति सम्बन्धबोधः प्रवर्तनायां लिङ्गः शक्तिपदं, करणं  
सहकारौ, प्ररोचना प्रशस्तफलवत्त्वबोधिका आर्थवादिकौ स्तुतिः, सा च प्रवृत्तिप्रति-  
बन्धकहेषनिरासेनोपयुज्यते, प्रशस्तफलज्ञाने दृष्टापेक्षया अधिकदुःखजनकत्वान्न न  
सम्भवति तदभावे च कारणाभावान्न हेष इति । अर्थभावना तु कर्तृव्यापारयव-  
रूपा तत्र च यागः करणतया, स्वर्गः कार्यतया, दर्श-यौर्गमासादियागानीभूतप्रया-  
जादियागविशेषः इतिकर्तव्यतया अन्वेति, तथाच स्वर्गकामो यजेतैव यगकरणक-  
स्वर्गोत्पादकप्रयाजादीतिकर्तव्यताकप्रवृत्तिप्रयोजक शक्तिपदकरणक-प्ररोचनाङ्गकव्यापारवान् शब्द-  
इत्यन्वयबोध इति भावः । यद्यपि स्वर्गभावनाया यवरूपाया न यागकारणत्वं  
किन्तु यागकारणत्वं यागस्य कृतिसाध्यतायाः सर्वसिद्धत्वात् तथापि स्वर्गकर्मक-  
भावनाया विशेषणीभूतस्वर्गकरणतयैव स्वर्गकर्मकत्वनिश्चितभावनाकरणत्वं यागस्येति  
ध्येयम् । न च स्वेच्छाजन्यप्रवृत्तिस्यैव इव प्रवर्तनाजन्यप्रवृत्तिस्येति दृष्टसाधनता-  
ज्ञानस्यैव कारणत्वं न तु प्रवर्तनाज्ञानस्येति वाच्यम् । व्यापारमित्रस्य कारणस्य स्निष्ठ-  
व्यापारद्वारैव परसमवेतव्यापारजनकत्वनियमात् यथा दंष्ट्ररूपघटकारणस्य स्निष्ठ-  
स्यन्दरूपव्यापारद्वारैव चक्रसमवेतस्यन्दजनकत्वं तथा लिङ्गः कारणस्य स्निष्ठमिधारूप-  
व्यापारद्वारैव प्रवर्त्तमानपुरुषनिष्ठप्रवृत्तिरूपव्यापारजनकत्वस्य अवश्यमङ्गीकर्तव्यतादिति ।  
मानाभावादिति, न च व्यापारमित्रस्य कारणस्येत्यादिनियम एव मानमिति वाच्यम् ।  
अनुमितिकारणव्याप्तिज्ञानादौ तादृशनिवर्तनस्य व्यभिचरिततया प्रमादत्तासम्भवात् ।



ननु करणस्य यागादेर्धर्म इष्टसाधनत्वं विध्यर्थोऽस्तु तत्राह,—

हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः ।

अन्यत्र कृतसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः ॥ १३ ॥

विध्यर्थस्य इष्टसाधनताया हेतुत्वात् लिङ्गतयोपन्यासात् । न च स्वस्य स्वलिङ्गत्वमिति । अग्निकामोदारुणी मथूयादित्युक्ते कुत इत्याकाङ्क्षायां वक्तारो वदन्ति, यतो दारुद्वयमथनमग्निसाधनमिति । अनुमानात् अर्थवादादिष्टसाधनताबोधानन्तरमपि विधेरनुमानात् । यदि चानुमितेनापि विधिना इष्टसाधनत्वमेव बोध्यं, तदा तदनुमानवैयर्थ्यम् । तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यामित्यादौ मृत्यु-ब्रह्महत्यासन्तरणकामोऽश्वमेधेन यजेतेति विध्यनुमानस्य सर्वतन्त्रसिद्धत्वात् । मध्यमादौ वियोगतः मध्यमोत्तमपुरुषे लिङ्-

अभिधामन्दत इति अभिधा यागप्रवर्त्तिका इति वाक्यादपीत्यर्थः । न च लिङ्गपद-जन्यभावनाज्ञानस्य कारणत्वकल्पने नोक्तदोष इति वाच्यम् । स्वेच्छाकालीनप्रवृत्ती कृतकारणभावाद्विष्टसाधनत्वज्ञानादेव प्रवृत्त्युपपत्तेरिष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे लाघवात् । अन्यस्य कर्तृधर्मादेः, बाधात् पूर्वोक्तबाधात् । प्रकृतेऽपि अभिधाया लिङ्गर्थेऽपि । बाधकसम्भवात् इति ॥ २२ ॥

प्राचीनमेयायि कमतमाशङ्क्य निषेधति, नन्वित्यादिना, कारिकायां हेतुत्वादि-त्यनन्तरम् इष्टसाधनत्वस्य न विध्यर्थत्वमिति पूरणीयम् । टीकायां विध्यर्थस्येति, स्वलिङ्गत्वमिति, तथाच विध्यर्थस्य इष्टसाधनतारूपत्वे साध्य-हेतोरविशेषेण इष्टसाधनत्वानुमापकत्वासम्भवः । आप्ताभिप्रायस्य विध्यर्थत्वे तु दारुद्वयमथनम् इष्टसाधनम् आप्ताभिप्रायविषयत्वादित्यनुमानं सम्भवतीति भावः । अग्निसाधनमिति तयाच विधिमेव इष्टसाधनत्वबोधात् दारुद्वयमथनमग्निसाधनमिति वाक्यस्य वैयर्थ्यमिति भावः । ब्रह्महत्यामित्यादाविति आदिपदेन योऽश्वमेधेन यजते इति परप्रतीकसंग्रहः, अस्मिन् बाधके उद्देश्यतावच्छेदक-विधेययोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावबोधस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् धनवान् सुखी इत्यत्र सुख-धनयोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावबोधस्यैव अत्रापि मृत्युतरणाद्य-निषेधयोः प्रयोज्य-प्रयोजकभावस्य सम्भवेन अर्धवारस्य इष्टसाधनत्वबोधवत्त्वात् इष्टसाधनत्वस्य



इष्टसाधनतावियोगात्, कुर्याः कुर्यामित्यत्राज्ञादिकं प्रतीयते, आज्ञा त्वभिप्राय एवेति प्रथमपुरुषेऽपि इच्छैवार्थः । अन्यत्र क्लृप्त-सामर्थ्यात् अध्वेषणादिलिङां इच्छावाचकत्वकल्पनात् । निषे-धानुपपत्तितः, न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्रेष्टसाधनत्वनिषेधस्य बाधि-तत्वात् । बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वञ्च न विध्यर्थः, श्येनेनाभि-चरन् यजेत इत्यादौ असम्भवात् । अप्रवर्त्तमानपुरुषस्य बलवद-द्वेषविषयत्वात् बलवदद्वेषविषयदुःखजनकत्वसामान्याभावस्य बाधि-तत्वादिति ॥ १३ ॥

विध्यर्थत्वे अथवादेन विध्यनुमानवैफल्यमिति भावः । इष्टसाधनतावियोगादिति इष्ट-साधनत्वाबोधकत्वादित्यर्थः । आज्ञादिकमित्यादिना संकल्पपरिग्रहः, कुर्या इत्यत्र आज्ञा, कुर्यामित्यत्र संकल्पः विध्यर्थः । आज्ञा त्वभिप्राय एवेतीति, तथाच यां वक्तुं रिच्छाम-ननुविदधानस्तत्संचोभादिमिति सा आज्ञा, या तु स्वकर्तव्यत्वेन इच्छा सा सङ्कल्पः । अध्वेषणादौत्यादिपदात् अनुज्ञा-सम्पन्न-प्रार्थनाशौःपरिग्रहः, श्रोतुः पूजा-सम्मानव्यञ्जिका इच्छा अध्वेषणा, वारणाभावव्यञ्जिकेच्छा अनुज्ञा, अभिधानप्रयोजनेच्छा सम्पन्नः, सामेच्छा प्रार्थना, शुभाशंसनमाशौः । इच्छावाचकत्वकल्पनादिति तथाच मध्यमोत्तमपुरुषयोरज्ञा-रूपेच्छावाचित्वदृष्टान्तेन प्रथमपुरुषेऽपीच्छावाचित्वं बलवदनिष्ठाननुबन्धेष्टसाधनत्वा-पेक्षयेच्छात्वेन विधिशक्तौ लाघवादिति भावः । बाधितत्वादिति फलञ्जभक्षणस्य दक्षि-रूपेष्टसाधनत्वेन इष्टसाधनत्वरूपविध्यर्थस्य बाधितत्वादित्यर्थः । न च न कलञ्जं भक्षये-दित्यत्र नञर्थविशेष्यक एवान्वयबोधो न तु नञर्थविधेयक इति वाच्यम् । नञरहित-स्थले यस्य विधेयत्वं तदभावस्यैव नञा बोधनीयत्वश्रुत्या तादृशबोधसम्भवात् । ननु बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थः तदभावस्तु न कलञ्जभक्षणे बाधित इत्याशङ्क्य निषेधति, बलवदित्यादि, श्येनेनेति, श्येनेति कर्मनामधेयम्, अभिचरन् शत्रुबधं कामयन्नित्यर्थः, असम्भवादिति तथाच श्येनस्य शत्रुबधद्वारा नरकोत्यादकालेन बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वासम्भवादिति भावः । ननु बलवत्त्वं बलवद्वेषविषयत्वं तथाच शत्रुबधार्थं श्येने प्रवर्त्तमानपुरुषस्य नरको बलवद्वेषाभावात् न तत्र विध्यर्थबाध इत्यत आह, अप्रवर्त्तमानपुरुषस्येति, श्येन इत्यादिः, बलवद्वेषविषयत्वादिति श्येनजन्यनरकस्य बलवद्वेषविषयत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥



स्वसतमाह,—

विधिवर्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।

अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥१४॥

प्रवृत्ति-निवृत्तिविषये आत्माभिप्रायः लिङादिभिः प्रत्ययैरभिधेयः, दृष्टसाधनता त्वनुमेया । वस्तुतस्तु ईश्वरेच्छायाः सर्वविषयक-

कर्मादिधर्मस्य विध्यर्थत्वं निरस्य परिशेषेण प्रयोक्तृधर्मस्यात्माभिप्रायस्य विध्यर्थत्वं व्यवस्थापयति, स्वसतमाहेति । कारिकायां विधिरित्यादि, प्रवृत्त्यादावित्यादिप्रदेन निवृत्तिपरिग्रहः, समन्वय उद्देश्यत्वं, तथाच प्रवृत्ति-निवृत्त्युद्देश्यकवक्त्राभिप्रायो विध्यर्थः स एव लिङादिप्रत्ययैः अभिधेयः प्रतिपाद्यः, कर्तुरिष्टाभ्युपायता तु कर्तुरिष्टसाधनता तु, अनुमेया विधिवाक्यजन्यवक्त्राभिप्रायात्मकविध्यर्थरूपलिङ्गज्ञानजन्यानुमितिविषय इत्यर्थः, प्रयोगस्तु यागो भग्नं स्वर्गकामस्य बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनं मत्तुल्यतिसाध्यतयाग्ने-  
नेत्यभावात् मन्त्रावकृतिसाध्यतयेष्वभावाच्चोन्नतवदित्याकारकः । न च वेदे वक्तु-  
रभावात् कस्येच्छा लिङा बोधनीयेति वाच्यम् । कर्तृभिन्नेच्छाया बोधने विधेः  
सामर्थ्याभावात् विधेरिव वेदवक्तरीश्वरे मानत्वादिति । आचार्यमते अस्वरसं दर्शयति  
वस्तुतस्त्विति, निषेधे वाच इति आग्नेच्छाविषयत्वत्वे ईश्वरेच्छाविषयत्वरूपस्य केवलान्वयिनः  
कलझभक्षणेऽपि सत्त्वादुपाध इत्यर्थः । न च व्युत्पत्तिवैचित्र्येण विभिन्नसमिव्याहृतजन्यः  
विशेष्यतयैवान्वेतीति कलझभक्षणाभाव इत्यरभिप्रेत इत्येवावाग्न्यवबोध इति वाच्यम् ।  
अन्वयबोधसम्भवेऽपि आत्माभिप्रायविषयत्वरूपस्य पिध्यर्थस्य बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधन-  
त्वानुमापकत्वासम्भवात् बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्टसाधनत्वरूपसाध्यस्य कलझभक्षणे आत्माभि-  
प्रायविषयत्वरूपविध्यर्थात्मकहेतोः सत्त्वेन व्यभिचारित्वात् । ननु बलवदनिष्ठाननु-  
बन्धित्वविशिष्टसाधनत्वप्रकारकेच्छाविषयत्वमेव विध्यर्थः तदेव चानुमापकमिति न  
व्यभिचार इत्याह, बलवदनिष्ठेति, गौरवमितीति तथाच बलवदनिष्ठाननुबन्धीष्ट-  
साधनत्वस्य विध्यर्थत्वकल्पनापेक्षया तस्य विध्यर्थत्वकल्पने गौरवमिति भावः । न च  
प्राचीनमते बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वविशिष्टसाधनत्वे नैका शक्तिः किन्तु प्रत्येकं विभिन्न-  
शक्तिरवश्यं कल्पनीया इति ज्ञानाशक्तिकल्पनापेक्षया तादृशगुरुधर्मावच्छिन्नेऽपि एक-  
शक्तिकल्पने लाघवमिति वाच्यम् । नवीनमतेऽपि ईश्वरेच्छाया विसृज्यादित्याद्योगात्



त्वात् निषेधे बाधः, बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वेनेच्छायाः शक्यत्वे गौरव-  
मिति प्राचीनमतमेव साधेयः ॥ १४ ॥

श्रुतेरित्यस्य व्याख्यानंतरमाह ।

कृतृश्च एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।

स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ॥ १५ ॥

सर्वत्र वेदभागे ईश्वरः प्रतिपादितः, यज्ञो वै विष्णुः पश्यत्यचक्षु-  
रित्यादिश्रुतिषु एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि व्यावा-पृथिव्यौ  
विष्टते तिष्ठत इत्यादिषु च, न तु सिद्ध्यर्थतया प्रमौषामन्यत्र  
तात्पर्यं, यथा स्वर्ग-नरकादिबोधकानां, तथा ईश्वरमुपासीतेति

बलवदनिष्ठाननुबन्धिनि श्येने बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वप्रकारकेश्वरेच्छाविषयत्वासम्भवेन बलवद-  
निष्ठाननुबन्धित्वप्रकारकेश्वरविषयत्वे इष्टसाधनत्वप्रकारकेश्वरविषयत्वे कृतिसाध्यत्वप्रकार-  
केश्वरविषयत्वे च पृथक् शक्तिकल्पनस्यावश्यकत्वात् । प्राचीनमतमिति कारणधर्मेष्ट-  
साधनात्वादिकं विध्यर्थ इति मतमित्यर्थः । न चेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे न कलञ्जं  
भक्षयेदित्यत्र कलञ्जभक्षणे दृष्टिरूपेष्टसाधनत्वसत्त्वात् तदभावस्य बाधितत्वं स्यादिति  
वाच्यम् । इष्टसाधनत्वे कृतिसाध्यते बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वे च विधेः पृथक् शक्ति-  
कल्पनात्, तथाच दृष्टिकामो जलं न ताडयेदित्यत्र इष्टसाधनत्वं, पङ्कः समुद्रं न तरे-  
दित्यत्र कृतिसाध्यत्वं, न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वं विध्यर्थः नञा  
तेषामभावः प्रत्याख्यत इति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः । न च इष्टसाधनत्वस्य  
विध्यर्थत्वे दारुद्र्यमथनमग्निसाधनमित्युत्तरवाक्यस्य तरति मृत्युमित्यादर्थवादेन विध्यनु-  
मानस्य च वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । यतः तादृशविध्युत्तरवाक्यस्य विध्यर्थविवरणतात्पर्य-  
कत्वम्, अर्थवादेन विध्यनुमानस्य अर्थवादजन्यज्ञानप्रामाण्यनिर्वाहार्थत्वञ्चेति सङ्केपः ॥ २४ ॥

कृतृश्च एव चेत्यादि, अयम् उपगौयमानो वेदः कृतृश्च एव सर्व एव, परमेश्वर-  
गोचरः परमात्मप्रतिपादकः, स्वर्गादिवदिति यथा "यन्न दुःखेन सन्निवृत्तम्" इत्यादय-  
वादस्य स्वर्गबोधकस्य स्वार्थप्रतिपादनद्वारा स्वर्गकामो यजेतेत्यादिविध्यैकवाक्यतया  
प्रामाण्यं तथा तस्य "यज्ञो वै विष्णुः" इत्यादिकृतृत्ववेदभागस्य, स्वार्थद्वारैव स्वार्थप्रति-



विध्येकवाक्यतया तेषां त्वन्मतेऽपि प्रामाण्यमेव । अन्यथा स्वर्गादि-  
पदानामपि स्वार्थे प्रामाण्यं न स्यात्, तदेतदुक्तं स्वार्थद्वारेवेति ।  
स्वार्थप्रतिपादनद्वारा एव विधौ सिद्धान्ततात्पर्यात् । वाक्यात् वैदिक-  
प्रशंसा-निन्दावाक्यानि प्रशंसा-निन्दाज्ञानपूर्वकाणि प्रशंसा-निन्दा-  
वादवाक्यत्वात् परिणतिसुरसमास्त्रफलमित्यादिवत् ॥ १५ ॥

संख्याविशेषादित्यस्य व्याख्यानतरमाह ।

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादौ संख्या प्रवक्तृणा ।

समाख्यापि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते ॥ १६ ॥

वैदिकोत्तमपुरुषेण स्वतन्त्रोच्चारयितुः संख्या वाच्या, तत् ऐक्षत  
एकोऽहं बहु स्यामित्यादिवद्भुषु उत्तमपुरुषश्च्युतेः । संख्यापदार्थमन्य-

पादमद्वारेव, विधौ “इश्वरसुपासीत” इति विधिना सङ्केकार्थबोधे तात्पर्यम् इति  
समुदितकारिकार्यः । टीकायां सर्वत्र वेदभाग इति, तथाच न सन्त्येव हि ते वेदभागाः  
यत्र परमेश्वरो न गीयत इति भावः । इत्यादिश्रुतिविवृति, आदिपदात् “तमेव वेदानु-  
वचनेन ब्राह्मणा विवदिषन्ति इत्यादि श्रुतीनां, “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं  
ब्रज” इत्यादिश्रुतीनाञ्च परिग्रहः । ननु क्रियाबोधनार्थं प्रवक्तृस्य वेदस्य यदंशे क्रिया  
नावगम्यते तादृशभागस्य “यज्ञो वै विष्णुः” इत्याद्यर्थवादस्य न स्वार्थे प्रामाण्यम् अपि तु  
विध्यंश् एव तात्पर्यमित्याशङ्कां समाधत्ते न लिति, सिद्धान्ततया सिद्धान्तबोधकार्थवाद-  
तया, अनौषाम् उक्तवेदभागानाम्, अन्यत्र विध्यंश् एव । स्वर्गादिपदानामपीति  
“यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्” इत्याद्यर्थवादघटकस्वर्गबोधकपदानामपीत्यर्थः, सिद्धान्ततात्पर्यात्  
सिद्धान्तबोधकार्थवादतात्पर्यात् । प्रयोगस्तु सर्वे वेदभागाः पुरुषप्रतिपादकाः वेदत्वात् यन्नैव  
तन्नैव घटादिवदिति । तथाच एतादृशानुमानेन अस्मददिवाधात् परमेश्वरसिद्धिरिति भावः ।  
वाक्यादित्यस्य व्याख्यानतरमाह, वाक्यादिति, तथाच स्वर्ग-नरकादि प्रशंसानिन्दाज्ञानञ्च नाख्य-  
दादीनां सम्भवतीत्यस्मदादिवाधादीश्वरसिद्धिरिति भावः ॥ १५ ॥

स्यामभूवमिति, स्यामभूवमित्यादिवैदिकोत्तमपुरुषे प्रवक्तृणा स्वतन्त्रोच्चारयितृगता  
संख्या वाचेति शेषः । संख्यायते कथ्यते अनया इति व्युत्पत्त्या संख्यापदस्य संज्ञार्थकल-



माह समाख्येत्यादि । सर्वासां शाखानां हि काठक-कालापकाद्याः ससाख्याः संज्ञाविशेषाः श्रूयन्ते, ते च नाध्ययनमात्रनिबन्धनाः, अध्येतृणामानन्थात् आदावन्यैरपि तदध्ययनात्, तस्मादतीन्द्रियार्थ-दर्शी भगवानिव कारुणिकः सर्गादावस्मदाद्यदृष्टाकृष्टकाठकादिशरीर-विशेषमधिष्ठाय यां शाखामुक्तवान् तस्याः शाखायास्तन्नाम्ना व्यपदेश इति सिद्धमीश्वरमननं मोक्षहेतुः ॥ १६ ॥

यस्येश्वरे न विश्वासस्तु प्रत्याह ।

इत्येवं श्रुति-नीतिसंभवजलैर्भूर्योभिराक्षान्ति

येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।

माह, समाख्यापि चेति, शाखानां कठ-कालापदिसंज्ञा च, आद्यप्रवचनादृते आद्यै सर्गादी प्रवचनादृते कसचित् अतीन्द्रियार्थदर्शिनः उक्तिं विना, 'न' न सम्भवतीत्यर्थः, इति कारिकातात्पर्यम् । टीकायां संख्या वाचेति, तथाच संख्याकारणत्वेन ईश्वर-सिद्धिं दर्शयित्वा संख्याश्रयत्वेन ईश्वरसिद्धिर्दर्शितेति भावः । नाध्ययनमात्रनिबन्धनेति येन यादृशी शाखा अधोता तन्नाम्नेव तादृशी शाखा व्यपदेशा इति न नियम इत्यर्थः, तादृशनियमे दोषमाह, अध्येतृणामानन्थादिति तथाच कठादिसंज्ञानामध्ययनमात्रा-धोतत्वे अध्येतृणामानन्थेन संज्ञाया अनन्तात्पत्तिरिति भावः । अनादाविति संसार-इति शेषः । प्रयोगस्तु वैदिकोत्तमपुरुषाः स्वतन्त्रोच्चारयितुं संख्यावाचकाः उत्तमपुरुष-त्वात् लौकिकोत्तमपुरुषवदिति । तथाच एतदनुमानेन अस्मदाद्याभितसंख्यावाचकत्व-वाधादीश्वरसिद्धिरिति भावः । संख्यापदस्य संज्ञापरत्वे प्रयोगस्तु वेदशाखानां कठ-कालापदिसंज्ञा पुरुषोक्त्यधोना संज्ञालात् आधुनिकसंज्ञावदिति । तथाच एतदनु-मानेन तादृशसंज्ञायां अतीन्द्रियार्थदर्शनासमर्थपुरुषोक्त्यधोना तत्त्ववाधात् अतीन्द्रियार्थदर्शपर-मेश्वरसिद्धिरिति भावः ॥ १६ ॥

इत्येवमित्यादि, इत्येवम् इत्यनेन यन्मोक्षप्रकारेण, श्रुतिः आवायः, नीतिः न्यायः, तयोः संभवः परस्परविरोधेन साहित्यं, तदेव जलं, श्रुतीनां न्यायानां मूलज्ञानं तत्-



किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः

काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥१७॥

इतिशब्दः स्वरूपे, एवंशब्दः प्रकारार्थः, शैलसारः लोहमति-  
कठिनशिला वा । प्रस्तुते ईश्वरे विप्रतीपविधयः प्रतिकूलपराः,  
तादृशा अपि उच्चैरतिशयेन काले भवच्चिन्तकाः, शङ्का-कलङ्कशून्याः  
कार्याः ॥ १७ ॥

अस्माकन्तु निसर्गमुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयौ-

त्यङ्गानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।

तन्नाथ त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां

याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो यास्याः पुनर्यातनाः ॥१८॥

साहित्यानामपि भूयस्वम् इति बहुवचननिर्देशः, तैर्जलैः आचालिते ईश्वरविषयक-  
विप्रतिपत्तिनिरासेन युद्धीकृते हृदये पदं नादधासि निश्चयगोचरो न भवसि, ते विप्रतिपत्ताः,  
शैलसाराशयाः पाषाणहृदयाः लोहहृदया वा । सर्वेषां सुक्तिमभिप्रेत्याह, किन्त्विति, प्रस्तुत-  
विप्रतीपविधयः प्रस्तुते परमेश्वरे विप्रतीपविधयः प्रतिकूलपराः कृतकार्त्तासपराः, काले  
कोशदशायाम् उच्चैः अतिशयेन भवच्चिन्तकाः सन्तः त्वयैव तारणीयाः स्वविषयकसंशयरूप-  
कलङ्करहिताः कार्या इति समुदितार्थः ॥ १७ ॥

अस्माकं का वार्त्ता इत्यत्राह, अस्माकन्त्विति, हे निसर्गमुन्दर स्वभावमुन्दर अस्माकं  
चेतः यद्यपि त्वयि निमग्नं श्रवण-मननयोरनन्तरं निदिध्यासनपरम्, इत्यङ्गा इति सत्यं,  
तथापि साक्षात्कारं विना तरलं चेतः अद्यापि न सन्तृप्यते स्वयं त्वत् न भवति, त्वसिः  
फलैच्छाविच्छेदः, त्वयि निमग्नभावस्य फलं चित्तं भवत्विति इच्छा न विच्छिद्यत इत्यर्थः ।  
हे नाथ त्वरितं करुणां विधेहि, येन करुणाविधानेन, चेतसि त्वदेकाग्रतां त्वविषयक-  
साक्षात्कारजनकतां याते प्राप्ते सति, यास्या यातनाः नरकायातनाः पुनर्नाप्नुवामिति  
समुदितार्थः ॥ १८ ॥



अद्या तत्त्वं, समुप्यत इति कर्मकर्त्तरि ।

इत्येष नैतिकुसुमाञ्जलिरुज्ज्वलश्री-  
र्यद्वासयेदपि च दक्षिण-वामकौ द्वौ ।

नो वा, ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु  
प्रौतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पणेन ॥ १८ ॥

इति पञ्चमः स्तवकः ।

नो वासयेत्ततः किमस्माकम् ।

इति श्रीहरिदासभट्टाचार्यविरचितकुसुमाञ्जलिकारिका-  
व्याख्यानं समाप्तम् ।

इत्येष इत्यादि, इतिः समाप्ता, एष उज्ज्वलश्रीः नैतिकुसुमाञ्जलिः न्यायकुसुमाञ्जलिः दक्षिण-  
वामकौ ईश्वरे प्रतिकूलानुकूलौ सुजनदुर्जनाविति यावत्, यत् वासयेत् अनुरञ्जयेत्, अपिच  
किञ्च नो वा वासयेत् नाशुरञ्जयेत्, ततः किं तच्छात् अस्माकं किं, किन्तु अमरेशः इन्द्रः तस्य  
गुरुः ब्रह्मस्यतिः तस्य गुरुः उपदेष्टा परमेश्वरः पदपीठसमर्पणेन पदमिव पीठं तत्र समर्पणं यस्य  
तथाविधेन अनेन न्यायकुसुमाञ्जलिना प्रौतोऽस्तु इति समुदितार्थः ॥ १८ ॥

इति महामहोपाध्याय—श्रीकामाख्यानायतर्कवागीशविरचितायां कुसुमाञ्जलिव्याख्याविहती  
पञ्चमस्तवकव्याख्याविहतिः समाप्ता ।

सम्पूर्णा चेयं कुसुमाञ्जलिव्याख्याविहतिः ।

शुभमस्तु ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR  
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI

Acc. No. १५३. 1373



[illegible]

RECEIVED  
JAN 10 1892  
U. S. DEPT. OF AGRICULTURE  
WASHINGTON, D. C.

1875

1. *Staphylinidae* 1000







परमेश्वरस्य लिङ्गात् न्यायिकारविचारकाः  
 तार्किका यदि निद्रांसो निष्टेः निरपराधयते ॥





20 23



